आचार्य समन्तभद्र विरचित

युक्त्यनुशासन

अन्वयार्थ एवं व्याख्या सहित

दिव्याशीष

दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज

सम्पादक

विजय कुमार जैन

आचार्य समन्तभद्र विरचित

युक्त्यनुशासन

अन्वयार्थ एवं व्याख्या सहित

आचार्य समन्तभद्र विरचित

युक्त्यनुशासन

अन्वयार्थ एवं व्याख्या सहित

व्याख्या मुख्य रूप से
पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' (1951),
'श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत युक्त्यनुशासन'
ग्रन्थ से उद्‌धृत की गई है।

दिव्याशीष

दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज

सम्पादक
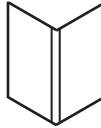
विजय कुमार जैन

विकल्प

आवरण चित्र

आचार्य समन्तभद्र ने **'युक्त्यनुशासन'** ग्रन्थ में चौबीसवें तीर्थंकर **श्री वीर जिन** को अपनी स्तुति का विषय बनाया है। श्री वीर जिन की यह प्रतिमा श्री सोनागिरि सिद्धक्षेत्र, सोनागिरि (म.प्र.) में विराजमान है।

विजय कुमार जैन, सितम्बर 2019

आचार्य समन्तभद्र विरचित

युक्त्यनुशासन

अन्वयार्थ एवं व्याख्या सहित

विजय कुमार जैन

Ācārya Samantabhadra's

Yuktyanuśāsana

Vijay K. Jain

ISBN: 978-81-932726-6-4

Rs. 500/-

Published, in the year 2020, by:
Vikalp Printers
Anekant Palace, 29 Rajpur Road
Dehradun-248001 (Uttarakhand) India

E-mail: vikalp_printers@rediffmail.com
Mob.: 9412057845, 9760068668

Printed at:
Vikalp Printers, Dehradun

दिव्याशीष

दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज
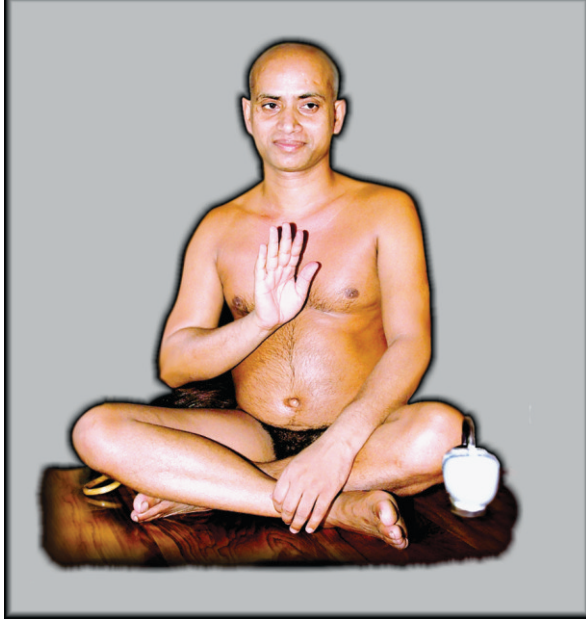
विश्व तत्त्व मनीषा में श्रमण-संस्कृति आद्य भूमिका रखती है, जो तीर्थंकर-भगवन्तों, गणधर-परमेष्ठियों, आचार्यों, मुनि-भगवंतों तथा अनेक मनीषी-विद्वानों के द्वारा संवर्धित एवं संपोषित है। संसार सभी प्रसिद्ध-साहित्य एवं साहित्यकारों से संस्तुत्य है, चाहे संवृत्ति से चाहे मुख्यार्थ से। सत्य तो यही है; जो सत्यार्थ बोध का प्रबल कारण है। ऐसे जिन-शासन को कौन नहीं जानता? जगति को जो दृष्टि किसी ने प्रदान नहीं की, वह दृष्टि जिन-शासन ने प्रदान की है। वस्तु का सत्यार्थ-निर्णय कैसे हो सकता है? उसकी विधि युक्तिपूर्वक जिन-शासन ने बतलाई है, इसलिए तो अर्हत्-शासन 'युक्त्यनुशासन' अपर नाम से संबोधित है।

बिना युक्ति-आगम के पदार्थों का सम्यक्-अधिगम नहीं हो सकता; यही बात ध्रुव-सत्य है। नय-प्रमाण के द्वारा ही वस्तु की सिद्धि होती है; यह सिद्धान्त पूर्ण-सिद्ध है। जगत् के दर्शनों के पास सम्यक्-प्रमाण का अभाव है और नय-विवक्षा तो है ही नहीं। बिना सम्यक्-नय के वस्तु के किसी भी धर्म की नियत-अवधारणा नहीं हो सकती। नय एवकार से युक्त होता है तथा प्रमाण अपि से सम्यक्-अनेकान्त-दृष्टि का नाम है। नय

सम्यक्-एकान्त-दृष्टि का नाम है। सम्यक्-एकान्त, सम्यक्-अनेकान्त के माध्यम से ही सम्यक्-रूप से वस्तु-तत्त्व का निर्णय होता है। मिथ्या-एकान्त, मिथ्या-अनेकान्त से वस्तु के वस्तुत्व का निर्णय कभी भी सम्भव नहीं है। अनेकान्त भी अनेकान्त-भूत है, जो प्रमाण-नय से युक्त है। अनेकान्त प्रमाण है, एकान्त-प्रमाण का अंत ही तो नय है।

जैन-वाङ्मय में न्याय-विद्या के उद्भट-विद्वान्, प्रज्ञावन्त आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी हैं; जो स्वामी नाम से विश्रुत हैं। दर्शन-जगत् में आलौकिक-प्रतिभा-पुञ्ज आचार्यवर जिन्होंने अपने स्याद्वाद-कौशल काव्य से भूमण्डल के सम्पूर्ण मिथ्यामतों का सूर्यवत् निरसन किया है। जैसे सूर्य की किरणें अंधकार को समाप्त कर देती हैं; उसी प्रकार से आचार्य देव समंतभद्र स्वामी ने बिना किसी मिथ्यावादी का नाम प्रकट किए उनके सर्व-विपरीत सिद्धान्तों का निरसन किया है।

आचार्यप्रवर हमारे परम-आराध्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने जो तर्क-शास्त्र जैन-वाङ्मय व विश्व-वसुन्धरा को प्रदान किया है, वह अपूर्व ही है। आपका सम्पूर्ण साहित्य न्याय-दर्शन से युक्त है। परीक्षा-प्रधानी आचार्यवर ने 'आप्त' की भी मीमांसा की। अनेक दार्शनिक-कृतियों में 'युक्त्यनुशासन' स्वामी समन्तभद्र की चिर-स्थायी, सर्वकालिक महान् कृति है, जिसमें स्वमत-मण्डन, परमत-खण्डन की अपूर्व शैली है। तीर्थंकर वर्धमान के शासन को 'सर्वोदय-शासन', 'सर्वोदयी-तीर्थ' का उद्घोष इसी कृति में है। दया-दम-त्याग-समाधि से निष्ठ भगवान् महावीर स्वामी का मत ही अद्वितीय मत है; वर्धमान आप श्री के चरणों में अभद्र भी समन्तभद्र हो जाता है।

ऐसे महान् ग्रन्थराज का सरल-सुबोध, सरल-शैली में जिनवाणी के निष्काम-भक्त, स्याद्वाद-शासन, नमोऽस्तु-शासन से अनुरक्त, स्व-समय को जिन्होंने अनेकान्त-शासन को समर्पित कर दिया है ऐसे विद्वान् श्री विजय कुमार जैन ने सम्पादन कर जिन-वागीश्वरी के कोश की वृद्धि की है। उनके अगाध श्रुत-संवेग का यही परिचय है कि वह हमेशा श्रुत-सेवा में संलग्न रहते हैं। स्व-समय की उपलब्धि हेतु, वह इसी प्रकार से स्व-समय का शुभ-प्रशस्त उपयोग करते रहें, यही शुभाशीष है।

शुभम् भूयात्।

पावन वर्षायोग **श्रमणाचार्य विशुद्धसागर मुनि**

बासोकुण्ड, वैशाली (बिहार) भारत

13 जुलाई, 2020

* * *

प्रस्तावना

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

– आचार्य समन्तभद्र, **'रत्नकरण्डकश्रावकाचार'**

सामान्यार्थ – जिनकी आत्मा ने कर्मरूप कलंक को नष्ट कर दिया है अर्थात् जो **वीतराग** हैं, अथवा जिनकी आत्मा ने हितोपदेश द्वारा अन्य जीवों को कर्मरूप कलंक से रहित किया है अर्थात् जो **हितोपदेशी** हैं और जिनका केवलज्ञान अलोक सहित तीनों लोकों के विषय में दर्पण के समान आचरण करता है अर्थात् जो **सर्वज्ञ** हैं, उन अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमानस्वामी को अथवा अनन्तचतुष्टयरूप लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त चौबीस तीर्थंकरों को, मैं नमस्कार करता हूँ।

वीर भगवान् की दिव्यध्वनि

भगवान् की वाणी अर्थात् दिव्यध्वनि तीन लोक को हितकर, मधुकर एवं विशद (निर्मल, स्पष्ट) होती है। वह ऊर्ध्व-अधो-मध्य लोकवर्ती समस्त जीवसमूह को विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय कहने वाली होने से हितकर है, परमार्थरसिक जनों के मन को हरने वाली होने से मधुर है और समस्त शंकादि दोषों के स्थान दूर कर देने से विशद (निर्मल, स्पष्ट) है।[1]

भगवान् जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि अठारह महाभाषा, सात-सौ क्षुद्र-भाषा तथा और भी जो संज्ञी जीवों की समस्त अक्षर-अनक्षरात्मक भाषाएँ हैं उनमें तालु, दाँत, ओष्ठ और कण्ठ के व्यापार से रहित होकर एक ही समय (एक साथ) भव्य जीवों को उपदेश देती है। स्वभावतः अस्खलित तथा अनुपम यह दिव्यध्वनि तीनों सन्ध्याकालों में नव-मुहूर्तों तक निकलती है और एक योजन पर्यन्त जाती है। इसके अतिरिक्त गणधरदेव, इन्द्र एवं चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ यह दिव्यध्वनि शेष समयों में भी निकलती है। यह दिव्यध्वनि भव्य जीवों के लिये छह-द्रव्य, नौ-पदार्थ, पाँच-अस्तिकाय और सात-तत्त्वों का निरूपण नाना प्रकार के हेतुओं के द्वारा करती है।[2]

---

1. देखें, मंगलाचरण, **'पंचास्तिकाय-संग्रह'**।

2. देखें, **'तिलोयपण्णत्ती-२'**, पृ. 279-280

योगियों में महायोगी तथा संघ के अधिपति - गणधर देव

'उक्त पाँच-अस्तिकायादिक क्या हैं?'- ऐसे सौधर्मेन्द्र के प्रश्न से संदेह को प्राप्त हुए, पाँचसौ-पाँचसौ शिष्यों से सहित तीन भ्राताओं से वेष्टित, मानस्तम्भ के देखने से ही मान से रहित हुए, वृद्धि को प्राप्त होने वाली विशुद्धि से संयुक्त, वर्धमान भगवान् के दर्शन करने पर असंख्यात भवों में अर्जित महान् कर्मों को नष्ट करने वाले, जिनेन्द्र-देव (अर्थकर्ता अथवा मूल ग्रन्थकर्ता) की तीन प्रदक्षिणा करके, पाँच अंगों द्वारा भूमिस्पर्शपूर्वक वन्दना करके एवं हृदय से जिन-भगवान् का ध्यान कर संयम को प्राप्त हुए। विशुद्धि के बल से अन्तर्मुहूर्त के भीतर उत्पन्न हुए समस्त गणधर के लक्षणों से संयुक्त तथा जिनमुख से निकले हुए बीजपदों के ज्ञान से सहित, ऐसे गौतमगोत्र वाले इन्द्रभूति ब्राह्मण द्वारा चूँकि आचरांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्तिअंग, ज्ञातृधर्मकथांग, उपास्काध्ययनांग, अन्तकृत्दशांग, अनुत्तरोपपादिक दशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग व दृष्टिवादांग इन बारह अंगों तथा सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कायाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निषिद्ध (निषद्य) इन चौदह अंगबाह्य प्रकीर्णकों की श्रावण मास के कृष्णपक्ष में युग के आदिम प्रतिपदा दिन के पूर्वाह्न में रचना की गयी थी, अतएव इन्द्रभूति भट्टारक-वर्धमान-जिन के तीर्थ में ग्रन्थकर्ता हुए। कहा भी है- 'वर्ष के प्रथम मास व प्रथम पक्ष श्रावणकृष्ण की प्रतिपदा के पूर्व दिन में अभिजित् नक्षत्र में तीर्थ की उत्पत्ति हुई।'[1]

वर्धमान तीर्थङ्कर (अर्थकर्ता अथवा मूल ग्रन्थकर्ता) के निमित्त से गौतम गणधर श्रुतपर्याय से परिणत हुए, इसलिए द्रव्यश्रुत के उत्तरतंत्रकर्ता गौतम गणधर हैं।

चौदह महाविद्या (चौदह पूर्व) रूपी सागर के पारगामी, समस्त विद्याओं में पारंगत, ब्रह्म का स्वरूप जानने वाले योगीश्वर, जिनको मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी समस्त दिगम्बर मुनि मस्तक झुकाकर नमस्कार करते हैं, ऐसे गणधर देव ही सर्वज्ञ भगवान् जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि में कही हुई समस्त विद्याओं को जानते हैं, वे ही उत्तरतंत्रकर्ता हैं।

भगवान् वीर जिनेन्द्र की धर्मसभा (समवसरण) में उनकी दिव्यध्वनि को लोगों के मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करके सम्यग्ज्ञानरूप से प्रकाशित करने वाले सूर्य की

---

1. **'धवला'** में निबद्ध श्रुतपरम्परा (देखें, **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'**, चतुर्थ खण्ड, पृ. 355-356)

किरणों के समूह के समान अवतरण कराने वाले इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, सुधर्मा और कौण्डिन्य आदि ग्यारह गणधर थे, जिनमें इन्द्रभूति प्रथम थे।

जगत्त्रय के रक्षक, भूतल में तिलकस्वरूप, बड़ी-बड़ी निर्मल बुद्धि-ऋद्धियों - कोष्ठबुद्धि, बीजबुद्धि, संभिन्नश्रोतृबुद्धि और पदानुसारणीबुद्धि आदि - के धारक, हे इन्द्रभूति गौतम स्वामी, आपको हमारा नमस्कार हो। हे संघ के अधिपति गणधर देव! हे श्रुतकेवली! आप सर्वज्ञ देव के द्वारा कही हुई समस्त विद्याओं को जानते हैं, आपको हमारा नमस्कार हो।

गणधर देव की ऋद्धियों का अति-संक्षिप्त वर्णन[1]

गणधर देव आठ ऋद्धियों से संयुक्त होते हैं - 1) **बुद्धि-ऋद्धि,** 2) **विक्रिया-ऋद्धि,** 3) **क्रिया-ऋद्धि,** 4) **तप-ऋद्धि,** 5) **बल-ऋद्धि,** 6) **औषधि-ऋद्धि,** 7) **रस-ऋद्धि** और 8) **क्षिति-ऋद्धि (क्षेत्र-ऋद्धि)।**

बुद्धि-ऋद्धि के अठारह भेद कहे गये हैं -

1) अवधिज्ञान - जो (देश) प्रत्यक्ष-ज्ञान अन्तिम स्कन्ध-पर्यन्त परमाणु आदिक मूर्त द्रव्यों को जानता है, उसको अवधिज्ञान जानना चाहिये।

2) मन:पर्ययज्ञान - मनुष्य-लोक में स्थित अनेक भेदरूप चिन्तित, अचिन्तित अथवा अर्धचिन्तित को जो ज्ञान जानता है, वह मन:पर्ययज्ञान है।

3) केवलज्ञान - जो ज्ञान प्रतिपक्षी से रहित होकर सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करता है, लोक एवं अलोक के विषय में अज्ञान-तिमिर से रहित है, केवल है (इन्द्रियादिक की सहायता से रहित है) और अखण्ड है, उसे जिनेन्द्रदेव केवलज्ञान कहते हैं।

4) बीजबुद्धि - नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय इन तीन प्रकार की प्रकृतियों के उत्कृष्ट क्षयोपशम से विशुद्ध हुए किसी भी महर्षि की जो बुद्धि संख्यात-स्वरूप शब्दों के मध्य में से लिङ्ग सहित एक ही बीजभूत पद को गुरु के उपदेश से प्राप्त कर उस पद के आश्रय से सम्पूर्ण श्रुत को विचार कर ग्रहण करती है, वह बीजबुद्धि है।

5) कोष्ठबुद्धि - उत्कृष्ट धारणा से युक्त जो कोई पुरुष (ऋषि) गुरु के उपदेश से नाना प्रकार के ग्रन्थों में से विस्तारपूर्वक लिङ्ग सहित शब्दरूप बीजों को अपनी बुद्धि से

---

1. देखें, **'तिलोयपण्णत्ती-२'**, पृ. 293-325

ग्रहण कर उन्हें मिश्रण के बिना बुद्धिरूपी कोठे में धारण करता है, उसकी बुद्धि कोष्ठबुद्धि कही गई है।

6) पदानुसारणी-बुद्धि - विशिष्ट ज्ञान को पदानुसारणी-बुद्धि कहते हैं। उसके तीन भेद हैं- अनुसारणी, प्रतिसारणी और उभयसारणी। ये तीनों बुद्धियाँ यथार्थ नाम वाली हैं।

जो बुद्धि आदि, मध्य एवं अन्त में गुरु के उपदेश से एक बीज पद को ग्रहण करके उपरिम ग्रन्थ को ग्रहण करती है, वह अनुसारणी बुद्धि कहलाती है।

गुरु के उपदेश से आदि, मध्य अथवा अन्त में एक बीज पद को ग्रहण करके जो बुद्धि अधस्तन ग्रन्थ को जानती है, वह प्रतिसारणी बुद्धि कहलाती है।

जो बुद्धि नियम अथवा अनियम से एक बीज-शब्द के ग्रहण करने पर उपरिम और अधस्तन ग्रन्थ को एक साथ जानती है, वह उभयसारणी बुद्धि है।

7) संभिन्नश्रोतृत्व-बुद्धि - श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय होने पर श्रोत्र-इन्द्रिय के उत्कृष्ट क्षेत्र से बाहर दसों दिशाओं में संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों के अक्षरानक्षरात्मक बहुत प्रकार के उठने वाले शब्दों को सुनकर जिससे प्रत्युत्तर दिया जाता है, वह संभिन्नश्रोतृत्व नामक बुद्धि-ऋद्धि है।

8) दूरास्वादित्व-बुद्धि - जिह्वेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय होने पर जिह्वा-इन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र से बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित विविध रसों के स्वाद को जो जानती है, उसे दूरास्वादित्व नामक बुद्धि-ऋद्धि कहते हैं।

9) दूरस्पर्शत्व-बुद्धि - स्पर्शनेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय होने पर जो स्पर्शनेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र से बाहर संख्यात योजनों में स्थित आठ प्रकार के स्पर्शों को जानती है, वह दूरस्पर्शत्व नामक बुद्धि-ऋद्धि है।

10) दूरघ्राणत्व-बुद्धि - घ्राणेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय होने पर जो घ्राणेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र से बाहर संख्यात योजनों में प्राप्त हुए बहुत प्रकार के गन्धों को सूँघती है, वह दूरघ्राणत्व नामक बुद्धि-ऋद्धि है।

11) दूरश्रवणत्व-बुद्धि - श्रोत्रेन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट

क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय होने पर जो श्रोत्रेन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र से बाहर संख्यात योजन प्रमाण क्षेत्र में स्थित रहने वाले बहुत प्रकार के मनुष्यों एवं तिर्यञ्चों की विशेषता से संयुक्त अनेक प्रकार के अक्षरानक्षरात्मक शब्दों के उत्पन्न होने पर उनका श्रवण करती है, उसे दूरश्रवणत्व नामक बुद्धि-ऋद्धि कहा गया है।

12) दूरदर्शित्व-बुद्धि - चक्षुरिन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम तथा अङ्गोपाङ्ग नामकर्म का उदय होने पर जो चक्षुरिन्द्रिय के उत्कृष्ट विषय-क्षेत्र से बाहर संख्यात योजनों में स्थित बहुत प्रकार के द्रव्यों को देखती है, उसे दूरदर्शित्व बुद्धि-ऋद्धि कहा गया है।

13) दसपूर्वी-बुद्धि - दस-पूर्व पढ़ने से रोहिणी आदि महाविद्याओं के पाँच-सौ और अंगुष्ठ-प्रसेनादिक (प्रश्नादिक) क्षुद्र (लघु) विद्याओं के सात-सौ देवता आकर आज्ञा माँगते हैं। इस समय जो महर्षि जितेन्द्रिय होने के कारण उन विद्याओं की इच्छा नहीं करते, वे 'विद्याधर श्रमण' पर्याय नाम से भुवन में प्रसिद्ध होते हुए अभिन्नदसपूर्वी कहलाते हैं। उन ऋषियों की बुद्धि को दसपूर्वी जानना चाहिये।

14) चौदहपूर्वी-बुद्धि - जो महर्षि सम्पूर्ण आगम के पारंगत हैं तथा 'श्रुतकेवली' नाम से सुप्रसिद्ध हैं उनके चौदहपूर्वी नामक बुद्धि-ऋद्धि होती है।

15) नैमित्तिक-बुद्धि - नैमित्तिक-बुद्धि-ऋद्धि नभ, भौम, अंग, स्वर, व्यंजन, लक्षण, चिह्न और स्वप्न इन आठ भेदों से विस्तृत है।

16) प्रज्ञाश्रमण-बुद्धि - श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर प्रज्ञाश्रमण बुद्धि-ऋद्धि उत्पन्न होती है। प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि से युक्त महर्षि बिना अध्ययन किये ही चौदह पूर्वों में विषय की सूक्ष्मतापूर्वक सम्पूर्ण श्रुत को जानता है और उसका नियम-पूर्वक निरूपण करता है। उसकी बुद्धि को प्रज्ञाश्रमण-ऋद्धि कहते हैं।

17) प्रत्येक-बुद्धि - जिसके द्वारा गुरु के उपदेश के बिना ही कर्मों के उपशम से सम्यग्ज्ञान और तप के विषय में प्रगति होती है, वह प्रत्येक-बुद्धि कहलाती है।

18) वादित्व-बुद्धि - जिस ऋद्धि द्वारा शाक्यादिक (या शक्रादि) विपक्षियों को भी बहुत भारी वाद से निरुत्तर कर दिया जाता है और पर के द्रव्यों की गवेषणा (परीक्षा) की जाती है (या दूसरों के छिद्र अथवा दोष ढूँढे जाते हैं) वह वादित्व बुद्धि-ऋद्धि कहलाती है।

विक्रिया-ऋद्धि के अनेक भेद हैं-

1) अणिमा ऋद्धि - शरीर को अणु बराबर छोटा कर लेना अणिमा-ऋद्धि है। इस ऋद्धि के प्रभाव से महर्षि अणु के बराबर छिद्र में प्रविष्ट होकर वहाँ ही विक्रिया द्वारा चक्रवर्ती के सम्पूर्ण कटक की रचना करता है।

2) महिमा, लघिमा और गरिमा ऋद्धि - शरीर को मेरु बराबर बड़ा कर लेना महिमा-ऋद्धि है। शरीर को वायु से भी लघुतर (पतला) करने को लघिमा-ऋद्धि और वज्र से भी अधिक गुरुता युक्त कर लेने को गरिमा-ऋद्धि कहते हैं।

3) प्राप्ति ऋद्धि - भूमि पर स्थित रहकर अंगुलि के अग्रभाग से सूर्य-चन्द्र आदिक को, मेरु-शिखरों को तथा अन्य भी वस्तुओं को जो प्राप्त करती है वह प्राप्ति-ऋद्धि कहलाती है।

4) प्राकाम्य ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से श्रमण पृथिवी पर भी जल के सदृश उन्मज्जन-निमज्जन करता है तथा जल पर भी पृथिवी के सदृश गमन करता है, वह प्राकाम्य-ऋद्धि है।

5) ईशत्व, वशित्व ऋद्धि - जिससे सब मनुष्यों पर प्रभुत्व होता है, वह ईशत्व नामक ऋद्धि है। जिससे तपोबल द्वारा जीव-समूह वश में होते हैं, वह वशित्व-ऋद्धि कही जाती है।

6) अप्रतिघात ऋद्धि - जिस ऋद्धि के बल से शैल, शिला और वृक्षादि के मध्य में होकर आकाश के सदृश गमन किया जाता है, वह सार्थक नामवाली अप्रतिघात-ऋद्धि है।

7) अन्तर्धान एवं कामरूप ऋद्धि - जिस ऋद्धि से अदृश्यता प्राप्त होती है वह अन्तर्धान नामक ऋद्धि और जिससे युगपत् बहुत से रूप रचे जाते हैं, वह कामरूप-ऋद्धि है।

क्रिया-ऋद्धि के दो भेद हैं- नभस्तल-गामित्व (आकाश-गामिनी) और चारणत्व।

1) नभस्तल-गामित्व (आकाश-गामिनी) ऋद्धि - जिस ऋद्धि के द्वारा कायोत्सर्ग अथवा अन्य प्रकार से ऊर्ध्व स्थित होकर या बैठकर आकाश में गमन किया जाता है, वह आकाश-गामिनी नाम वाली ऋद्धि है।

2) चारण ऋद्धि - दूसरी चारणत्व (चारण ऋद्धि) क्रमशः जल-चारण, जङ्घा-चारण, फल-चारण, पुष्प-चारण, पत्र-चारण, अग्निशिखा-चारण, धूम-चारण, मेघ-चारण, धारा-चारण, मकड़ी-तन्तु-चारण, ज्योतिश्चारण और मारुत-चारण इत्यादि अनेक प्रकार के विकल्प-समूहों से विस्तार को प्राप्त है।

2.1) जल-चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि से मुनि समुद्र के मध्य में अर्थात् जल पर पैर रखता हुआ जाता है और दौड़ता है किन्तु जलकायिक जीवों की विराधना नहीं करता है।

2.2) जङ्घा-चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि से चार-अंगुल प्रमाण पृथिवी को छोड़कर तथा घुटनों को मोड़े बिना आकाश में बहुत योजनों पर्यन्त गमन किया जाता है।

2.3) फल-चारण ऋद्धि - विविध प्रकार के वन-फलों में रहने वाले जीवों की विराधना न करते हुए उनके ऊपर से दौड़ना (चलना) फल-चारण ऋद्धि है।

2.4) पुष्प-चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि के प्रभाव से बहुत प्रकार के फूलों में रहने वाले जीवों की विराधना न करते हुए उनके ऊपर से जाया जाता है।

2.5) पत्र-चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि का धारक मुनि बहुत प्रकार के पत्तों में रहने वाले जीवों की विराधना न करते हुए उनके ऊपर से चला जाता है।

2.6) अग्निशिखा-चारण ऋद्धि - अग्निशिखाओं में रहने वाले जीवों की विराधना न करके उन विचित्र अग्निशिखाओं पर से गमन करना।

2.7) धूम-चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि के प्रभाव से मुनिजन ऊपर, नीचे और तिरछे फैलने वाले धुएँ का अवलम्बन लेकर अस्खलित (एक सी गति) पादक्षेप करते हुए गमन करते हैं।

2.8) मेघ-चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि से मुनि अप्कायिक जीवों को पीड़ा न पहुँचाकर बहुत प्रकार के मेघों पर से गमन करते हैं।

2.9) धारा-चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि से मुनि मेघों से छोड़ी गई जलधाराओं में स्थित जीवों की विराधना न कर उनके ऊपर से जाते हैं।

2.10) मकड़ी-तन्तु-चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि से मुनि-महर्षि शीघ्रता से किये गये पद-विक्षेप में अत्यन्त लघु होते हुए, मकड़ी के तन्तुओं की पंक्ति पर से गमन करते हैं।

2.11) ज्योतिश्चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि के द्वारा तपस्वी मुनि ज्योतिषी-देवों के विमानों की नीचे, ऊपर और तिरछे फैलने वाली किरणों का अवलम्बन लेकर गमन करते हैं।

2.12) मारुत-चारण ऋद्धि - इस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि नाना प्रकार की गति से युक्त वायु के प्रदेशों की पंक्तियों पर अस्खलित होकर पद-विक्षेप करते हैं।

तप-ऋद्धि के सात मुख्य भेद कहे गये हैं-

1) उग्रतप ऋद्धि - इसके दो भेद हैं-

उग्रोग्रतप ऋद्धि - दीक्षोपवास से प्रारम्भ कर मरण-पर्यन्त एक-एक अधिक उपवास को बढ़ाकर निर्वाह करना उग्रोग्रतप-ऋद्धि है।

अवस्थित-उग्रतप ऋद्धि - दीक्षार्थ एक उपवास करके पारणा करे और पुनः एक-एक दिन का अन्तर देकर उपवास करता जाए। पुनः कुछ कारण पाकर षष्ट-भक्त, पुनः अष्टम-भक्त (पुनः दसम-भक्त, पुनः द्वादशम-भक्त) इत्यादि क्रम से नीचे न गिरकर जिनेन्द्र की भक्ति-पूर्वक प्रसन्न-चित्त से उत्तरोत्तर मरण-पर्यन्त उपवासों को बढ़ाते जाना अवस्थित-उग्रतप-ऋद्धि है।

2) दीप्ततप ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से मन, वचन और काय से बलिष्ठ ऋषि के बहुत प्रकार के उपवासों द्वारा शरीर की किरणों का समूह सूर्य-सदृश बढ़ता हो वह दीप्ततप-ऋद्धि है।

3) तप्ततप ऋद्धि - लोहे की तप्त कड़ाही में गिरे हुए जल-कण के सदृश जिस ऋद्धि से खाया हुआ अन्न धातुओं सहित क्षीण हो जाता है (मल-मूत्रादिरूप परिणमन नहीं करता) वह निज-ध्यान से उत्पन्न हुई तप्ततप-ऋद्धि है।

4) महातप ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि चार सम्यग्ज्ञानों के बल से मन्दर-पंक्ति-प्रमुख सब ही महान् उपवासों को करता है, वह महातप-ऋद्धि है।

5) घोरतप ऋद्धि - जिस ऋद्धि के बल से ज्वर एवं शूलादिक-रोग से शरीर के अत्यन्त पीड़ित होने पर भी साधुजन दुर्द्धर-तप को सिद्ध करते हैं, वह घोरतप-ऋद्धि है।

6) घोरपराक्रम-तप ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनिजन अनुपम एवं वृद्धिङ्गत तप सहित, तीनों लोकों को संहार करने की शक्ति-युक्त; कण्टक, शिला, अग्नि, पर्वत, धुआँ तथा उल्का आदि के बरसाने में समर्थ एवं सहसा सम्पूर्ण समुद्र के जल-समूह को सुखाने की शक्ति से भी संयुक्त होते हैं, वह घोरपराक्रम-तप-ऋद्धि है।

7) अघोर-ब्रह्मचारित्व ऋद्धि - जिस ऋद्धि से मुनि के क्षेत्र में चौरादिक बाधाएँ और कलह एवं युद्धादिक नहीं होते हैं, वह अघोर-ब्रह्मचारित्व-ऋद्धि है।

अथवा, चारित्र-निरोधक मोहकर्म (चारित्रमोहनीय) का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जो ऋद्धि दुरस्वप्न को नष्ट करती है, वह अघोर-ब्रह्मचारित्व-ऋद्धि है।

अथवा, जिस ऋद्धि के आविर्भूत होने से महर्षिजन सब गुणों के साथ अघोर (अविनश्वर) ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, वह अघोर-ब्रह्मचारित्व-ऋद्धि है।

बल-ऋद्धि के तीन भेद कहे गये हैं-

1) मनोबल ऋद्धि - जिस ऋद्धि के द्वारा श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय, इन दो प्रकृतियों का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर श्रमण मुहूर्तमात्र (अन्तर्मुहूर्त) काल में सम्पूर्ण श्रुत का चिन्तवन कर लेता है एवं उसे जान लेता है, वह मनोबल नामक ऋद्धि है।
2) वचनबल ऋद्धि - जिह्वेन्द्रियावरण, नोइन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय का उत्कृष्ट क्षयोपशम होने पर जिस ऋद्धि के प्रकट होने से मुनि श्रम-रहित एवं अहीन-कण्ठ (कण्ठ से बोले बिना ही) होते हुए, मुहूर्तमात्र (अन्तर्मुहूर्त) काल के भीतर सम्पूर्ण श्रुत को जान लेते हैं एवं उसका उच्चारण कर लेते हैं, उसे वचनबल नामक ऋद्धि जानना चाहिये।
3) कायबल ऋद्धि - जिस ऋद्धि के बल से वीर्यान्तराय प्रकृति के उत्कृष्ट क्षयोपशम की विशेषता होने पर मुनि मास एवं चतुर्मासादिरूप कायोत्सर्ग करते हुए भी श्रम से रहित होते हैं तथा शीघ्रता से तीनों लोकों को कनिष्ठ अंगुली के ऊपर उठाकर अन्यत्र स्थापित करने में समर्थ होते हैं, वह कायबल नामक ऋद्धि है।

औषधि-ऋद्धि के आठ भेद कहे गये हैं-

1) आमर्शौषधि ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋषि के हस्त एवं पादादि के स्पर्श से तथा समीप आने मात्र से (रोगी) जीव निरोग हो जाते हैं, वह आमर्शौषधि-ऋद्धि है।
2) क्ष्वेलौषधि ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से ऋषि के लार, कफ, अक्षिमल, और नासिकामल शीघ्र ही जीवों के रोगों को नष्ट कर देते हैं, वह क्ष्वेलौषधि-ऋद्धि है।
3) जल्लौषधि ऋद्धि - स्वेदजल (पसीना) के आश्रित (उत्पन्न होने वाला) शरीर का अङ्गरज मलजल्ल कहा जाता है। जिस ऋद्धि के प्रभाव से उस अङ्गरज से भी जीवों के रोग नष्ट होते हैं, वह जल्लौषधि-ऋद्धि है।
4) मलौषधि ऋद्धि - जिस शक्ति से जिह्वा, ओंठ, दाँत, नासिका और श्रोतादि का मल भी जीवों के रोगों को दूर करने वाला होता है, वह मलौषधि नामक ऋद्धि है।
5) विडौषधि ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से महामुनियों का मूत्र एवं विष्ठा भी जीवों के बहुत भयानक रोगों को नष्ट करने वाला होता है, वह विडौषधि नामक ऋद्धि है।
6) सर्वौषधि ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से दुष्कर तप से युक्त मुनियों द्वारा स्पर्श किया हुआ जल एवं वायु तथा उनके रोम और नख आदि भी व्याधि के हरने वाले हो जाते हैं, वह सर्वौषधि नामक ऋद्धि है।

7) वचननिर्विष ऋद्धि – जिस ऋद्धि के प्रभाव से तिक्तादिक रस एवं विष-संयुक्त विविध प्रकार का अन्न (भोजन) वचनमात्र से ही निर्विष हो जाता है, वह वचननिर्विष नामक ऋद्धि है। अथवा, जिस ऋद्धि के प्रभाव से बहुत व्याधियों से युक्त जीव ऋषि के वचन सुनकर शीघ्र ही नीरोग हो जाते हैं, वह वचननिर्विष नामक ऋद्धि है।
8) दृष्टिनिर्विष ऋद्धि – जिस ऋद्धि के प्रभाव से रोग एवं विष से युक्त जीव ऋषि के देखने मात्र से शीघ्र ही नीरोगता एवं निर्विषता को प्राप्त करते हैं, वह दृष्टिनिर्विष ऋद्धि कही गई है।

रस-ऋद्धि के क्रमशः दो और चार (कुल छह) भेद कहे गये हैं-

1) आशीविष ऋद्धि – जिस ऋद्धि के प्रभाव से दुष्कर-तप युक्त मुनि के द्वारा 'मर जाओ' इस प्रकार कहने पर जीव सहसा मर जाता है, वह आशीविष नामक ऋद्धि है।
2) दृष्टिविष ऋद्धि – जिस ऋद्धि के प्रभाव से रोष-युक्त हृदय वाले महर्षि द्वारा देखा गया जीव सर्प द्वारा काटे गये के सदृश मर जाता है, वह दृष्टिविष नामक ऋद्धि है।

3) क्षीरस्रवी ऋद्धि – जिससे हस्ततल पर रखे हुए रूखे आहारादिक तत्काल ही दुग्ध-परिणाम को प्राप्त हो जाते हैं, वह क्षीरस्रवी-ऋद्धि है।

   अथवा, जिस ऋद्धि से मुनियों के वचनों के श्रवणमात्र से ही मनुष्य-तिर्यञ्चों के दुःखादिक शान्त हो जाते हैं, उसे क्षीरस्रवी-ऋद्धि समझना चाहिये।
4) मधुस्रवी ऋद्धि – जिस ऋद्धि से मुनि के हाथ में रखे गये रूखे आहारादिक क्षणभर में मधुर रस से युक्त हो जाते हैं, वह मधुस्रवी-ऋद्धि है।

   अथवा, जिस ऋद्धि से मुनि के वचनों के श्रवणमात्र से मनुष्य-तिर्यञ्चों के दुःखादिक नष्ट हो जाते हैं, वह मधुस्रवी-ऋद्धि है।
5) अमृतस्रवी ऋद्धि – जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनियों के हाथ में स्थित रूखे आहारादिक क्षणमात्र में अमृतपने को प्राप्त होते हैं, वह अमृतस्रवी-ऋद्धि है।

   अथवा, जिस ऋषि के वचन सुननेमात्र से (श्रवणकाल में) शीघ्र ही दुःखादिक नष्ट हो जाते हैं, वह अमृतस्रवी नामक ऋद्धि है।
6) सर्पिस्रवी ऋद्धि – जिस ऋद्धि से ऋषि के हस्ततल में निक्षिप्त रूखा आहारादिक भी क्षणमात्र में घृतरूपता को प्राप्त करता है, वह सर्पिस्रवी ऋद्धि है। अथवा, जिस ऋद्धि

के प्रभाव से मुनीन्द्र के दिव्य-वचनों के सुनने से ही जीवों के दु:खादिक शान्त हो जाते हैं, वह सर्पिस्रवी ऋद्धि है।

क्षेत्र-ऋद्धि के दो भेद हैं-

1) अक्षीणमहानसिक ऋद्धि - लाभान्तराय के क्षयोपशम से संयुक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से मुनि के आहारोपरान्त थाली के मध्य बची हुई भोज्य सामग्री में से एक भी वस्तु को यदि उस दिन चक्रवर्ती का सम्पूर्ण कटक भी खावे तो भी वह लेशमात्र क्षीण नहीं होती है, वह अक्षीणमहानसिक ऋद्धि है।
2) अक्षीणमहालय ऋद्धि - जिस ऋद्धि के प्रभाव से समचतुष्कोण चार धनुष प्रमाण क्षेत्र में असंख्यात् मनुष्य-तिर्यञ्च स्थान प्राप्त कर लेते हैं, वह अक्षीणमहालय ऋद्धि है।

गौतम आदि अनुबद्ध केवली[1]

वीर जिनेन्द्र का निर्वाण होने के पश्चात् तीन वर्ष, आठ मास और एक पक्ष व्यतीत हो जाने पर दु:षमाकाल प्रवेश करता है। जिस दिन भगवान् महावीर सिद्ध हुए उसी दिन गौतम-गणधर केवलज्ञान को प्राप्त हुए। पुन: गौतमस्वामी के सिद्ध होने पर सुधर्मस्वामी (अपरनाम लोहाचार्य) केवली हुए। सुधर्मस्वामी के कर्मनाश करने (मुक्त होने) पर जम्बूस्वामी केवली हुए। जम्बूस्वामी के सिद्ध होने के पश्चात् फिर कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ।
गौतम-गणधर, सुधर्मस्वामी और जम्बूस्वामी केवलियों के धर्म-प्रवर्तन का काल पिण्डरूप से बासठ वर्ष प्रमाण है।[2]

चौदहपूर्व-धारियों (श्रुतकेवलियों) के नाम एवं काल का प्रमाण

प्रथम नन्दी, द्वितीय नन्दिमित्र, तृतीय अपराजित, चतुर्थ गोवर्धन और पञ्चम भद्रबाहु, इस

---

1. देखें, **'तिलोयपण्णत्ती-२'**, पृ. 432-436

2. गौतमस्वामी = बारह वर्ष; सुधर्मस्वामी = बारह वर्ष; जम्बूस्वामी = अड़तीस वर्ष। इस प्रकार भगवान् महावीर के निर्वाण होने के पश्चात् कुल बासठ वर्ष तक ये तीन केवली हुए। (देखें, **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'**, चतुर्थ खण्ड, पृ. 347)

प्रकार ये पाँच पुरुषोत्तम जग में 'चौदह-पूर्वी' इस नाम से विख्यात हुए। बारह अङ्गों के धारक ये पाँचों श्रुतकेवली श्रीवर्धमान स्वामी के तीर्थ में हुए हैं। इन पाँचों श्रुतकेवलियों का सम्पूर्ण काल मिला देने पर सौ वर्ष होता है। पाँचवें श्रुतकेवली के बाद फिर कोई श्रुतकेवली नहीं हुआ।

दसपूर्वधारी एवं उनका काल-प्रमाण

(प्रथम) विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिषेण, विजय, बुद्धिल, गङ्गदेव और सुधर्म, ये ग्यारह आचार्य दस पूर्वधारी विख्यात हुए हैं। परम्परा से प्राप्त इन सबका काल एक सौ तेरासी वर्ष प्रमाण है।

काल के वश उन सब श्रुतकेवलियों के अतीत हो जाने पर भरत क्षेत्र में भव्यरूपी कमलों को विकसित करने वाले दस-पूर्वधररूप सूर्य फिर नहीं उदित हुआ।

ग्यारह-अङ्गधारी एवं उनका काल

नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस, ये पाँच आचार्य वीर जिनेन्द्र के तीर्थ में ग्यारह अङ्ग के धारी हुए हैं। इनके काल का प्रमाण पिण्डरूप से दो सौ बीस वर्ष है। इनके स्वर्गस्थ होने पर फिर भरत क्षेत्र में कोई ग्यारह अङ्गों का धारक भी नहीं रहा।

आचराङ्गधारी एवं उनका काल

प्रथम सुभद्र, फिर यशोभद्र, यशोबाहु और चतुर्थ लोहार्य, ये चार आचार्य आचराङ्ग के धारक हुए हैं। उक्त चारों आचार्य आचराङ्ग के अतिरिक्त शेष ग्यारह अङ्गों और चौदह पूर्वों के एकदेश धारक थे। इनके काल का प्रमाण एक सौ अठारह वर्ष है। इनके स्वर्गस्थ होने पर भरत क्षेत्र में फिर कोई आचराङ्ग-ज्ञान के धारक नहीं हुए।

गौतम-गणधर से लोहार्य पर्यन्त का सम्मिलित काल-प्रमाण

गौतम-गणधर को आदि लेकर आचार्य लोहार्य पर्यन्त के सम्पूर्ण काल का प्रमाण छह सौ तेरासी वर्ष होता है।

वीर जिनेन्द्र के निर्वाण के बाद–

गौतम–गणधर आदि अनुबद्ध केवलियों का काल प्रमाण	–	62	वर्ष
श्रुतकेवलियों के काल का प्रमाण	–	100	वर्ष
दसपूर्वधारी आचार्यों के काल का प्रमाण	–	183	वर्ष
ग्यारह–अङ्गधारी आचार्यों के काल का प्रमाण	–	220	वर्ष
आचराङ्गधारी आचार्यों के काल का प्रमाण	–	118	वर्ष
सब काल का योग	–	683	वर्ष

श्रुतमुनि पट्टावलि[1] में आचार्य समन्तभद्र का उल्लेख

...यद्यपि भद्रबाहुस्वामि श्रुतकेवली, मुनीश्वरों (श्रुतकेवलियों) के अन्त में हुए, तो भी ये सभी पण्डितों के नायक तथा श्रुत्यर्थ प्रतिपादन करने से सभी विद्वानों के पूर्ववर्ती थे।

इन्हीं के शिष्य शीलवान् श्रीमान् चन्द्रगुप्त मुनि हुए। इनकी तीव्र तपस्या उस समय भूमण्डल में व्याप्त हो रही थी। इन्हीं के वंश में बहुत से यतिवर हुए, जिनमें प्रखर तपस्या करने वाले मुनीन्द्र कुन्दकुन्दस्वामी हुए।
तत्पश्चात् सभी अर्थ को जानने वाले उमास्वाति नाम के मुनि इस पवित्र आम्नाय में हुए, जिन्होंने श्री जिनेन्द्र–प्रणीत शास्त्र को सूत्ररूप में रूपान्तर किया। सभी प्राणियों के संरक्षण में तत्पर योगी उमास्वाति मुनि ने गृध्रपक्ष को धारण किया। तभी से विद्वद्गण उन्हें गृध्रपिच्छाचार्य कहने लगे। इन योगी महाराज की परम्परा में प्रदीपरूप महर्द्धिशाली तपस्वी बलाकपिच्छ हुए। इनके शरीर के संसर्ग से विषमयी हवा भी उस समय अमृत (निर्विष) हो जाती थी।
इसके बाद जिनशासन के प्रणेता भद्रमूर्ति श्रीमान् समन्तभद्रस्वामी हुए। इनके वाग्वज्र के कठोर पात ने वादिरूपी पर्वतों को चूर्ण–चूर्ण कर दिया था।...

---

1. श्रुतमुनि पट्टावलि (शक सं. 1355, ई. सन् 1433) – (देखें, **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'**, चतुर्थ खण्ड, पृ. 410–419)

आचार्य समन्तभद्र की स्तुति में कतिपय उत्तरोत्तर तंत्रकर्ताओं के उद्‌गार

महान् आचार्य जिनसेन **'आदिपुराण'** में आचार्य समन्तभद्र को दो गाथाओं में इस प्रकार से नमस्कार करते हैं–

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्नाः कुमताद्रयः ॥ ४३ ॥

मैं उन महाकवि समन्तभद्र को नमस्कार करता हूँ जो कि कवियों में ब्रह्मा के समान हैं और जिनके वचनरूप वज्र के पात से मिथ्यामतरूपी पर्वत चूर–चूर हो जाते थे।

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥

स्वतन्त्र कविता करने वाले कवि, शिष्यों को ग्रन्थ के मर्म तक पहुँचाने वाले गमक–टीकाकार, शास्त्रार्थ करने वाले वादी और मनोहर व्याख्यान देने वाले वाग्मी इन सभी के मस्तक पर समन्तभद्र स्वामी का यश चूड़ामणि के समान आचरण करने वाला है, अर्थात् वे सब में श्रेष्ठ थे।

आचार्य जिनसेन **'हरिवंशपुराण'** में भी आचार्य समन्तभद्र को नमस्कार करते हैं–

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम् ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥ २९ ॥

जो जीवसिद्धि नामक ग्रन्थ (पक्ष में जीवों की मुक्ति) के रचयिता हैं तथा जिन्होंने युक्त्यनुशासन नामक ग्रन्थ (पक्ष में हेतुवाद के उपदेश) की रचना की है ऐसे श्री समन्तभद्रस्वामी के वचन इस संसार में भगवान् महावीर के वचनों के समान विस्तार को प्राप्त हैं।

आचार्य नरेन्द्रसेन **'सिद्धान्तसारसंग्रह'** में कहते हैं–

श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् ।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥ ११ ॥

श्री समन्तभद्रस्वामी का निर्दोष प्रवचन प्राणियों के लिये ऐसा ही दुर्लभ है जैसा कि मनुष्यत्व का पाना, अर्थात् अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों को जिस प्रकार मनुष्यभव का मिलना दुर्लभ होता है, उसी प्रकार समन्तभद्रस्वामी के प्रवचन का लाभ होना भी दुर्लभ है; जिन्हें उसकी प्राप्ति होती है वे निःसन्देह सौभाग्यशाली हैं।

आचार्य शुभचन्द्र **'ज्ञानार्णव'** ग्रन्थ में आचार्य समन्तभद्र की महिमा का वर्णन कुछ इस प्रकार से करते हैं–

समन्तभद्रादिकवीन्द्रभास्वतां स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥ १४ ॥

जहाँ समन्तभद्रादि कवीन्द्ररूपी सूर्यों की निर्मल उत्तम वचनरूप किरणें फैलती हैं, वहाँ ज्ञानलव से उद्धत खद्योत (जुगनू) के समान मनुष्य क्या हास्यता को प्राप्त नहीं होंगे? अवश्य ही होंगे।

आचार्य समन्तभद्र की रचनाएँ

आचार्य समन्तभद्र ने दर्शन, ज्ञान, सिद्धान्त, न्याय, स्तुति और चारित्र को अपने अप्रतिम काव्य का विषय बनाया है। उनकी निम्नलिखित रचनाएँ मानी जाती हैं–

आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र)
रत्नकरण्डकश्रावकाचार
स्वयम्भूस्तोत्र
युक्त्यनुशासन (वीरजिनस्तोत्र)
स्तुतिविद्या (जिनशतक, जिनस्तुतिशतं, जिनशतकालङ्कार)
जीवसिद्धि
गन्धहस्तिमहाभाष्य

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित प्रारम्भ के पाँच ग्रन्थ तो सर्वजनसुप्रसिद्ध हैं, उन पर अनेक आचार्यों ने टीकाएँ भी लिखी हैं। अन्त की दो रचनाएँ वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं।

आचार्य समन्तभद्र का समय-निर्णय

आचार्य समन्तभद्र ने अपने अस्तित्व से इस भारत-भूमि को कब पवित्र किया इसके विषय में शोधकर्ता विद्वानों में मतभेद है।

प्रसिद्ध विद्वान् जुगलकिशोर मुख्तार ने आचार्य समन्तभद्र के समय-निर्णय के विषय पर गूढ़ विवेचन और शोध किया है जो उन्होंने **'रत्नकरण्डकश्रावकाचार'**[1] की अपनी प्रस्तावना में लगभग अस्सी पृष्ठों के विस्तृत आलेख में प्रस्तुत किया है। उनका निष्कर्ष इस प्रकार है-

> "...इतना तो सुनिश्चित है कि समन्तभद्र विक्रम की पाँचवीं शताब्दी से पीछे अथवा ईसवी सन् 450 के बाद नहीं हुए; और न वे विक्रम की पहली शताब्दी से पहले के ही विद्वान् मालूम होते हैं - पहली से पाँचवीं तक पाँच शताब्दियों के मध्यवर्ती किसी समय में ही वे हुए हैं। स्थूल रूप से विचार करने पर हमें समन्तभद्र विक्रम की प्रायः दूसरी या दूसरी और तीसरी शताब्दी के विद्वान् मालूम होते हैं।"

आचार्य समन्तभद्र का 'युक्त्यनुशासन'

जिनशासन प्रणेता आचार्य समन्तभद्र ने 'युक्त्यनुशासन', जिसका दूसरा नाम 'वीरजिनस्तोत्र' है, को 'आप्तमीमांसा', जिसका दूसरा नाम 'देवागमस्तोत्र' है, के बाद - सब आप्तों-सर्वज्ञों की परीक्षा कर लेने के अनन्तर - लिखा है।

'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ में अखिल तत्त्व की समीचीन एवं युक्तियुक्त समीक्षा के द्वारा श्री वीर जिनेन्द्र के निर्मल गुणों की स्तुति की गयी है। युक्तिपूर्वक ही वीर-शासन का मण्डन किया गया है और अन्य मतों का खण्डन किया गया है। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयं ग्रन्थ की 48वीं कारिका में 'युक्त्यनुशासन' का अर्थ इस प्रकार से किया है- 'प्रत्यक्ष (दृष्ट) और आगम से अविरोधरूप अर्थ का जो अर्थ से प्ररूपण है उसे युक्त्यनुशासन कहते हैं

---

1. देखें, जुगलकिशोर मुख्तार, **'श्रीमन्समन्तभद्रस्वामिविरचितो रत्नकरण्डकश्रावकाचारः'**, मणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, प्रस्तावना, 'समय-निर्णय', पृ. 115-196

और वही (हे वीर भगवन्!) आपको अभिमत है। यहाँ अर्थ का रूप प्रतिक्षण (प्रत्येक समय में) स्थिति (ध्रौव्य), उदय (उत्पाद) और व्यय (नाश) रूप तत्त्व-व्यवस्था को लिये हुए है, क्योंकि वह सत् है।'

सर्व ही 'आप्तों' अथवा 'सर्वज्ञों' की परीक्षा 'युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाकत्व' हेतु से की गई है (देखें, आप्तमीमांसा, का. 6)। इसका अर्थ यह है कि 'आप्तों' अथवा 'सर्वज्ञों' के वचन युक्ति और आगम से अविरोधी होने चाहियें। उनमें दोषों (राग-द्वेषादिक) और आवरणों (दोषों के कारणों - ज्ञानावरणादिक कर्मों) की पूर्ण हानि होनी चाहिये (आप्तमीमांसा, का. 4); अर्थात् उनको वीतराग होना चाहिये। उनमें सूक्ष्म, अन्तरित तथा दूरवर्ती समस्त पदार्थों को जानने की शक्ति अर्थात् सर्वज्ञता की सिद्धि होनी चाहिये (आप्तमीमांसा, का. 5)। मोक्षमार्ग के प्रवर्तक होने से वे ही परमहितोपदेशक हैं। पूर्ण परीक्षा के बाद चूँकि वीर जिन इन दोषों और दोषाऽऽशयों के पाश-बन्धन से विमुक्त पाये गये हैं, और महती कीर्ति से भूमण्डल पर वर्द्धमान हैं, इसीलिये आचार्य समन्तभद्र 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ के द्वारा उनको अपनी स्तुति का विषय बनाने के अभिलाषी हुए हैं (युक्त्यनुशासन, का. 1)।

श्री वीर जिन की महानता का उल्लेख आचार्य समन्तभद्र ने 'युक्त्यनुशासन' में इस प्रकार से किया है- "हे वीर जिन! आप शुद्धि और शक्ति के उदय की उस पराकाष्ठा (चरमसीमा) को प्राप्त हुए हैं जो उपमा रहित है तथा शान्ति-सुख स्वरूप है। आप ब्रह्मपथ (आत्मविकास पद्धति अर्थात् मोक्षमार्ग) के नेता हैं, महान् हैं और इस प्रकार इतना ही आपके प्रति कहने के लिए हम समर्थ हैं।" (युक्त्यनुशासन, का. 4)

वीर-शासन की महानता का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है- "हे वीर जिन! आपका मत (अनेकान्तात्मक शासन) दया (अहिंसा), दम (इन्द्रियदमन, संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन), समाधि (प्रशस्तध्यान) से निष्ठ (पूर्ण) है। नय और प्रमाण से सम्यक् वस्तुतत्त्व (पदार्थों) को बिल्कुल स्पष्ट (सुनिश्चित) करने वाला है और (अनेकान्तवाद से भिन्न) अन्य सभी प्रवादों से अबाध्य (जीता नहीं जा सकने वाला) है। इसीलिये वह अद्वितीय है।" (युक्त्यनुशासन, का. 6)

श्री वीर जिन और वीर-शासन की महानता का युक्तियुक्त उल्लेख करने के पश्चात् आचार्य समन्तभद्र ने ग्रन्थ की 39वीं कारिका तक यह प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार

दूसरे सर्वथा एकान्त शासनों में निर्दिष्ट वस्तुतत्त्व प्रमाणबाधित है तथा अपने अस्तित्व को सिद्ध करने में असमर्थ है। कुछ सर्वथा एकान्त मत निम्न प्रकार से हैं– वैशेषिक पदार्थों में सामान्य–विशेष का ज्ञान पदार्थों का गुण (धर्म) नहीं मानते हैं अपितु यह सम्बन्ध समवाय नाम के स्वतन्त्र पदार्थ से मानते हैं। चार्वाक मत आत्मतत्त्व को भिन्न–तत्त्व न मानकर पृथिवी आदि भूतचतुष्क का ही विकार अथवा कार्य मानता है। बौद्धों का क्षणिकात्मवाद मानता है कि प्रथम क्षण में नष्ट हुआ चित्त–आत्मा दूसरे क्षण में विद्यमान नहीं रहता। विज्ञानाद्वैत में तत्त्व सकल विकल्पों से शून्य तथा सम्पूर्ण अभिलापों (कथन प्रकारों) की आस्पदता (आश्रयता) से रहित माना गया है। संवेदनाद्वैत में प्रत्यक्षबुद्धि प्रवृत्त नहीं होती अर्थात् प्रत्यक्षतः किसी के द्वारा तत्त्व का तद्रूप निश्चय नहीं बनता। माध्यमिक मत की मान्यतानुरूप शून्यतत्त्व ही तत्त्व है और वह परमार्थवृत्ति संवृतिरूप (अतात्त्विकी, कल्पनामात्र, व्यवहारमात्र) है। कोई मानते हैं कि सम्पूर्ण तत्त्व सर्वथा अवाच्य ही है। कोई मानते हैं कि जगत् के अनाचार–मार्गों में – हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रह नाम के पाँच महापापों में – भी कोई दोष नहीं है। 39वीं कारिका की व्याख्या में टीकाकार आचार्य विद्यानन्द स्वामी कहते हैं– "(यहाँ तक) इस युक्त्यनुशासन स्तोत्र में शुद्धि और शक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए वीर जिनेन्द्र के अनेकान्तात्मक स्याद्वाद मत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्त के आग्रह को लिये हुए मिथ्यामतों का समूह है उसका संक्षेप से निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियों को भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।"

वीर–शासन में वस्तुतत्त्व को सामान्य–विशेषात्मक माना गया है। जो पद एवकार से उपहित (युक्त) है, अथवा जो पद एवकार से रहित है, अथवा सर्वथा अवाच्यता (अवक्तव्यता), इन किसी से भी वस्तुतत्त्व का समीचीन प्रतिपादन नहीं हो सकता है। स्याद्वाद–शासन में जो 'स्यात्' नाम का निपात (शब्द) है वह गौणरूप से विपक्षभूत धर्म की सन्धि–संयोजना करता है। स्यात्पद मुख्य और गौण दोनों अंगों को जोड़ने वाला है। विधि, निषेध और अनभिलाप्यता (अवक्तव्यता) – ये एक–एक करके (पद के) तीन मूल विकल्प हैं। इनके विपक्षभूत धर्म की संधि–संयोजना रूप से द्विसंयोजक तीन विकल्प होते हैं। और त्रिसंयोजक एक ही विकल्प है। इस तरह से ये सात विकल्प सम्पूर्ण अर्थभेद में घटित होते हैं और ये सब विकल्प 'स्यात्' शब्द के द्वारा नेतृत्व को प्राप्त हैं।

स्याद्वाद–शासन के बाहर, न सर्वथा द्रव्य की, न सर्वथा पर्याय की और न सर्वथा प्रथग्भूत

द्रव्य-पर्याय (दोनों) की ही कोई व्यवस्था बनती है। किन्तु स्याद्वाद मत में धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों असर्वथारूप से तीन प्रकार - भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाऽभिन्न - माने गये हैं और इसलिये सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं। (युक्त्यनुशासन, का. 47)

जो जीवादि वस्तु एक है (सत्वरूप एकत्व-प्रत्यभिज्ञान का विषय होने से) वह (समीचीन नाना-ज्ञान का विषय होने से) नानात्मता (अनेकरूपता) का त्याग न करती हुई ही वस्तुतत्त्व को प्राप्त होती है। और (इसी तरह) जो वस्तु (अबाधित नाना-ज्ञान का विषय होने से) नानात्मक प्रसिद्ध है वह एकात्मता को न छोड़ती हुई ही वस्तुस्वरूप से अभिमत है। वस्तु जो अनन्तरूप है, वह अङ्ग-अङ्गी भाव के कारण - गुण-मुख्य की विवक्षा को लेकर - क्रम से वचन-गोचर है। (युक्त्यनुशासन, का. 49)
'आप्तमीमांसा' की कारिका 22 में भी यही तथ्य प्रकाशित किया गया है-

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः ।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ॥२२॥

अनन्त-धर्म वाले धर्मी का प्रत्येक धर्म एक भिन्न ही प्रयोजन को लिए हुए होता है। और उन धर्मों में से एक धर्म के प्रधान होने पर शेष धर्मों की प्रतीति उस समय गौण-रूप से होती है।

मन की समता का निराकरण करने वाले राग-द्वेषादिक एकान्तधर्माभिनिवेशमूलक होते हैं अर्थात् मिथ्याश्रद्धान उनका मूल कारण होता है और (मोही-मिथ्यादृष्टि) जीवों की अहंकृति से, अर्थात् अहंकार तथा उसके साथी ममकार से, वे उत्पन्न होते हैं और (सम्यग्दृष्टि जीवों के) एकान्तधर्माभिनिवेश-रूप मिथ्यादर्शन के अभाव से वह एकान्तधर्माभिनिवेश उसी अनेकान्त के निश्चयरूप सम्यग्दर्शनत्व को धारण करता है जो आत्मा का स्वाभाविक रूप है। (युक्त्यनुशासन, का. 51)

बन्ध और मोक्ष अनेकान्त मत से बाह्य नहीं हैं क्योंकि वे दोनों ज्ञवृत्ति हैं - अनेकान्तवादियों के द्वारा स्वीकृत ज्ञाता आत्मा में ही उनकी प्रवृत्ति है।
स्याद्वाद-शासन में जिस प्रकार अभेदबुद्धि से (द्रव्यत्वादि व्यक्ति की) अविशिष्टता (समानता) होती है उसी प्रकार व्यावृत्तिबुद्धि से (भेदबुद्धि से) विशिष्टता की प्राप्ति होती है। जो वाक्य प्रधानभाव से विधि का प्रतिपादक है वह गौणरूप से प्रतिषेध का भी

प्रतिपादक है और जो मुख्यरूप से प्रतिषेध का प्रतिपादक है वह गौणरूप से विधि का भी प्रतिपादक है।

महावीर के तीर्थ को सर्वोदय-तीर्थ कहा है जो सर्व आपदाओं (दु:खों) का अन्त करने वाला है, निरन्त है; किसी भी मिथ्यादर्शन के द्वारा खण्डनीय नहीं है और सब प्राणियों के अभ्युदय का साधक है। (युक्त्यनुशासन, का. 61)

आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि वीर जिन के स्याद्वाद-शासन से द्वेष रखने वाला अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) होकर इस शासन का अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही वह सब ओर से भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। (युक्त्यनुशासन, का. 62)

ग्रन्थ के अन्त में आचार्य समन्तभद्र घोषणा करते हैं कि यह स्तोत्र न तो भव-पाश-छेदक मुनि (वीर भगवन्) के प्रति रागभाव से कहा गया है और न ही दूसरों के प्रति द्वेषभाव से। हे वीर जिन! इसका हेतु अथवा उद्देश्य तो यही है कि जो लोग न्याय-अन्याय को पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थ के गुण-दोषों को जानने की जिनकी इच्छा है, उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषण के उपायस्वरूप' आपकी गुण-कथा के साथ कहा गया है। आप मोहादिरूप कर्म-शत्रुओं की सेना को पूर्णरूप से पराजित करने से वीर हैं, नि:श्रेयस पद को अधिगत (स्वाधीन) करने से महावीर हैं और देवेन्द्रों और मुनीन्द्रों (गणधरदेवादिकों) जैसे स्वयं स्तुत्यों के द्वारा स्तुत्य हैं। इसी से आप मुझ परीक्षाप्रधानी के द्वारा शक्ति के अनुरूप स्तुति किये गये हैं।

आचार्य विद्यानन्द की 'युक्त्यनुशासन' पर संस्कृत टीका

आचार्य समन्तभद्र जैसे महान् उत्तरोत्तर तंत्रकर्ताओं ने अपनी आत्म-विशुद्धि और तपस्या के बल पर अवश्य ही ऐसी किन्हीं बुद्धि-ऋद्धियों की प्राप्ति की होगी जिनके बल पर उन्होंने ऐसे-ऐसे जटिल परन्तु सारगर्भित, पूर्वापर दोष से रहित गाथा-सूत्रों की रचना की कि जिनका शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ एवं भावार्थ समझने के लिये इस युग के विद्वान् भी अपने आप को असमर्थ पाते हैं। इसीलिये इन महान् उत्तरोत्तर तंत्रकर्ताओं के उपरान्त इस भूमि को पवित्र करने वाले अन्य बड़े-बड़े तपस्वी आचार्यों ने उन पूर्वाचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों पर विस्तृत टीकायें लिखकर उन अद्भुत ग्रन्थों को हम जैसे अल्पज्ञों के

बोधगम्य बनाया है।

'तत्त्वार्थवार्तिक', 'अष्टशती', 'लघीयस्त्रय' और 'न्यायविनिश्चय' जैसे महान् ग्रन्थों के रचनाकार आचार्य अकलंकदेव (सातवीं शती) जैन-न्याय के प्रतिष्ठापक और उसको सुव्यवस्थित करने वाले माने जाते हैं। आचार्य अकलंकदेव के बाद आचार्य विद्यानन्द (आठवीं शती) हुए जिन्होंने अपनी प्रतिभा से 'अष्टशती' की व्याख्या के रूप में 'अष्टसहस्री' की रचना की, जो भारतीय दर्शनशास्त्र का एक मुकुटमणि ग्रन्थ है। उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थों में 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक', 'युक्त्यनुशासनालङ्कार', 'प्रमाणपरीक्षा', 'आप्तपरीक्षा', 'सत्यशासनपरीक्षा', और 'पत्रपरीक्षा' प्रमुख हैं।

आचार्य विद्यानन्द द्वारा रचित 'युक्त्यनुशासनालङ्कार' आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित 'युक्त्यनुशासन' की संस्कृत टीका है। बाद के सभी रचनाकारों के लिये यही टीका 'युक्त्यनुशासन' पर कुछ कार्य कर पाने का आधार बनी।

'युक्त्यनुशासन' पर हिन्दी रचनायें एवं प्रस्तुत कृति

आचार्य विद्यानन्द की संस्कृत टीका का डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन (2017) द्वारा हिन्दी अनुवाद उपलब्ध है। क्षु. मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' (1977) द्वारा 'युक्त्यनुशासन' पर हिन्दी में दिये गये प्रवचन भी प्रकाशित हो चुके हैं। **आचार्य समन्तभद्र के 'युक्त्यनुशासन' पर सबसे मनोहारी और बोधगम्य हिन्दी व्याख्या पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' (१९५१) द्वारा की गई है।** उन्होंने आचार्य विद्यानन्द की संस्कृत टीका को भली प्रकार से हृदयस्थ कर यह सटीक एवं प्रभावी व्याख्या अपनी विशिष्ट प्राञ्जल शैली में लिखी है। **आपके हाथों में यह प्रस्तुत कृति तो मानो उन्हीं की रचना की पुनरावृत्ति है; सत्यवचन की यथातथ्य आवृत्ति में अपनी ओर से न्यूनता अथवा अधिकता लाने का प्रश्न ही कहाँ पैदा होता है?** हाँ, कुछ स्थानों पर उनकी व्याख्या को विज्ञ पाठकों के लिये सरल करने के लिये क्लिष्ट न्याय-शब्दों का जैन-न्याय ग्रन्थों जैसे 'आप्तमीमांसा', 'परीक्षामुखसूत्र', 'आलापपद्धति' और 'प्रमेयरत्नमाला' से प्रामाणिक सन्दर्भ प्रस्तुत करने का प्रयास अवश्य किया गया है। 'युक्त्यनुशासन' में वर्णित कुछ विषयों अथवा सिद्धान्तों को अन्य महान् ग्रन्थों जैसे 'आदिपुराण' और 'णयचक्को' का आश्रय लेकर पाठकों के लिये और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास भी किया गया है। **हमने अपनी ओर से कुछ भी नहीं लिखा है।** पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' की स्वर्गस्थ आत्मा को हमारा हार्दिक अभिनन्दन।

आचार्य विशुद्धसागर

आचार्य गुणभद्र स्वामी ने **'आत्मानुशासन'** ग्रन्थ में परम आचार्य के ये लक्षण बतलाये हैं–

श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्तिः परप्रतिबोधने
परिणतिरुरूद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ ।
बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुताऽस्पृहा
यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरुः सताम् ॥६॥

अर्थ – जिसके परिपूर्ण श्रुत है अर्थात् जो समस्त सिद्धान्त का जानकार है; जिसका चारित्र अथवा मन, वचन व काय की प्रवृत्ति पवित्र है; जो दूसरों को प्रतिबोधित करने में प्रवीण है; मोक्षमार्ग के प्रचार-रूप समीचीन कार्य में अतिशय प्रयत्नशील है; जिसकी अन्य विद्वान् स्तुति करते हैं तथा जो स्वयं भी विशिष्ट विद्वानों की प्रशंसा एवं उन्हें नमस्कार आदि करता है; जो अभिमान से रहित है; लोक और लोकमर्यादा का जानकार है; सरल-परिणामी है; इस लोकसम्बन्धी इच्छाओं से रहित है; तथा जिसमें और भी आचार्य-पद के योग्य गुण विद्यमान हैं; वही हेयोपादेय-विवेकज्ञान के अभिलाषी शिष्यों का गुरु हो सकता है।

आचार्य गुणभद्र ने इस गाथासूत्र में आचार्य-पद के लिये जो गुण विस्तृत किये हैं उनका इस वर्तमान समय के आचार्यों में विद्यमान होना दुर्लभ हो सकता है परन्तु असम्भव नहीं है। आचार्य विशुद्धसागर (जन्म 18 दिसम्बर 1971) एक ऐसे ही गुण-सम्पन्न आचार्य हैं। वे मुनिराज सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी आभूषणों से सहित हैं, मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण ही उनके आभरण हैं, और कर्मरूपी शत्रुओं को हराकर मुक्ति-वधू को वरने के लिये ही उन्होंने यह जिनेन्द्र-प्रतिपादित कठिन दीक्षा धारण की है। वे हर्ष-विषाद से रहित हैं, शान्त इन्द्रियों और प्रशान्त मुद्रा के धारक हैं, सिंह के समान निर्भय हैं, तप और ध्यान उनको अति प्रिय हैं। वे शत्रु और मित्र तथा रत्नों की राशि और तृण में समान बुद्धि रखते हैं। कुशल परिणामों में मन को स्थिर रखते हुए वे आत्मकल्याण में लीन रहते हैं। माँ जिनवाणी की जीवन पर्यन्त सेवा करने का उन्होंने दृढ़ निश्चय कर रखा है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, महाव्रत, समिति तथा गुप्तियों से युक्त आचार्य विशुद्धसागर अपनी आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन करते हुए छह प्रकार के बाह्य और छह ही प्रकार के आभ्यन्तर तपों की निरन्तर आराधना करते हैं। इस कलिकाल में स्वाध्याय को

वे परम तप मानते हैं। उनके अनुसार पाँच प्रकार का स्वाध्याय - वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और उपदेश - प्रशस्त अभिप्राय के लिये, प्रज्ञा अर्थात् भेद-विज्ञान के अतिशय की प्राप्ति के लिये, संवेग के लिये और तप की वृद्धि के लिये किया जाता है।

आचार्य विशुद्धसागर मुनिधर्म के सम्यक् निर्वहन के लिए आगम को कर्णधार मानते हैं, मुनि का चक्षु मानते हैं। आगम ही धर्मध्यान का आश्रय है। नयों के सैकड़ों भंगों से भरा हुआ जो कुछ आगम का विस्तार है वह सब अन्तरात्मा की विशुद्धि के लिये ध्यान करने योग्य है। आगम ही मोक्षरूप पुरुषार्थ का उपदेशक होने के कारण संसार के समस्त जीवों का हित करने वाला है, युक्तियों से प्रबल है, किसी के द्वारा जीता नहीं जा सकता है, अपरिमित है, अत्यन्त प्रभावशाली है, जीव-अजीव आदि पदार्थों का सम्यक् निरूपण करता है, अतिशय गम्भीर है, उत्कृष्ट है, सूक्ष्म है और आप्त के द्वारा कहा हुआ है।

आचार्य विशुद्धसागर के यथार्थवादित्व गुण की परीक्षा या समीक्षा करना मेरी बुद्धि के बाहर है। कहाँ आचार्य भगवन् का अतुल ज्ञान और वर्धमान चारित्र और कहाँ अनेक प्रकार के आवरणों से ढका हुआ मेरा ज्ञान और चारित्र जिनको प्रशस्त करने के लिए मैंने अभी तक आगम में वर्णित उत्तम मोक्ष-मार्ग, जो मुनिधर्म से संस्कारित है, पर पहला कदम भी नहीं रखा है! फिर भी भक्ति और श्रद्धा के वश मैं आचार्य भगवन् के इस यथार्थवादित्व गुण का कुछ विस्तार करने के लिये उद्यत हुआ हूँ। मेरी इस धृष्टता का एक कारण यह भी है कि जो लोग आप्त-प्रणीत आगम और मिथ्याशास्त्रों के अन्तर को अपनी अविचारित भक्ति अथवा विवेकहीन बुद्धि के कारण जानने में असमर्थ हैं वे भी कुछ देर के लिये अपने नेत्र बन्द करके युक्तियुक्त न्यायमार्ग को प्रतिपादित करने वाली आचार्य भगवन् की वाणी को सुनें। ज्ञानी तथा वीतरागी गुरु के मुख से निकली हुई सम्यक् देशना मोक्षाभिलाषी जीवों का जिनागम में गर्भित सर्व-उपकारी और दुर्लभ यथार्थ ज्ञान से साक्षात्कार कराती है। उत्तम पात्र उस ज्ञान का अधिग्रहण करता है, मनन करता है, फिर निर्णय और श्रद्धान करता है। जिनागम में वर्णित व्यवहार-निश्चय के अविरोधरूप मोक्षमार्ग के स्वरूप को जानकर वह सम्यक्त्व को और तदुपरान्त चारित्र को भी प्राप्त होता है।

हे श्रुत-उपासक आचार्य विशुद्धसागर! हे सर्वज्ञ-तीर्थंकर की दिव्यध्वनि में खिरने वाले आत्मस्वरूप को जानने-समझने से उत्कृष्ट विशुद्धि को प्राप्त आचार्यवर्य! हे मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को नष्ट करने हेतु सूर्य की किरणों के समूह के समान समीचीन मार्ग के प्रकाशक! हे हितरूप, मधुर और निर्मल वचनों द्वारा जीवों का उपकार करने वाले

योगीश्वर! हे श्रेष्ठ और मोक्षाभिलाषी ऐसे दिगम्बर मुनिराजों – जो सदैव मस्तक झुकाकर आपको नमस्कार करते हुए मोक्ष के उपायभूत व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय की उपासना करते हैं – के अधिपति! हे परीक्षाप्रधानी आचार्य समन्तभद्र स्वामी के कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व गुणों की प्रतिमूर्ति! मैं सम्यग्दर्शन रूपी अमृत की प्राप्ति के लिये आपके पावन चरण–मूल का आश्रय लेता हूँ, आपको बार–बार नमस्कार करता हूँ।

प्रस्तुत कृति का संशोधन एवं परिष्करण

27 मई 2020 को, श्रुत पञ्चमी के दिन, हमने इस ग्रंथ की पाण्डुलिपि 'प्रूफ–रीडिंग' हेतु परम–पूज्य दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर महाराज और उनके शिष्य प्रज्ञावन्त मुनिराजों, जो पावन वर्षायोग हेतु बासोकुण्ड, वैशाली (बिहार) में विराजमान हैं, के अवलोकनार्थ भेजी थी। आचार्य भगवन् ने व उनकी आज्ञा से उनके शिष्य श्रुत–संवेगी मुनिराजों ने अत्यंत हर्षित भाव से इस ग्रन्थ का अद्योपान्त अवलोकन एवं निरीक्षण किया।

लगभग दो माह पश्चात् ग्रंथ की पाण्डुलिपि संशोधनों सहित हमारे पास वापस पहुँची। प्राय: सभी पृष्ठ विस्तृत टिप्पणियों से परिपूर्ण थे। न केवल आवश्यक संशोधन किए गए थे, जगह–जगह ग्रंथ के सुसंस्कार हेतु विभिन्न पूर्वाचार्यों द्वारा रचित महान् ग्रंथों के उद्धरण भी सुझाये गए थे।

मूल पाण्डुलिपि के साथ संलग्न थे– आचार्य भगवन् की हस्तलिखित शुभाशीष, संघस्थ मुनिराज परम–पूज्य सुव्रतसागर महाराज का आशीर्वाद–पत्रक, तथा परम–पूज्य मुनिराज समत्वसागर महाराज का 16 पृष्ठों का 'ध्यातव्य–पत्रक' जिसमें इस कृति को सुसंस्कारित एवं पाठकों के लिए अधिक सुगम्य बनाने हेतु अनेक बिन्दु सुझाये गए थे।

अपने चालीस वर्षों के प्रकाशन और प्रिंटिंग के अनुभव में ऐसी 'प्रूफ–रीडिंग' हमने पहली बार देखी। जितना पुरुषार्थ **परम–पूज्य समत्वसागर जी मुनिराज** ने इस ग्रंथ के संशोधन एवं परिष्करण में किया है, वे तो मानो इसके **सह–सम्पादक** ही हैं। इस ग्रंथ का वर्तमान स्वरूप उनके ही पुरुषार्थ से संभव हो पाया है।

इस अद्भुत कार्य के लिए हमारे हृदय में परम–पूज्य आचार्य विशुद्धसागर महाराज और उनके संघस्थ मुनिराजों के प्रति आभार का भाव नहीं है; एक माँ के पुत्रों का अपनी माँ की सेवा करते समय क्या परस्पर में कोई आभार का भाव होता है? हाँ, हमारे उनसे प्रेरणा लेने के भाव अवश्य हैं। वे मुनिराज अहोरात्र वागीश्वरी, माँ भारती जिनवाणी की सेवा में लगे

हुए हैं। माँ जिनवाणी की गोद विशाल है और जो भी उनकी गोद में बैठता है वह सुख को प्राप्त होता ही है; फिर कौन प्रज्ञावान् पुरुष अपने को इस सुख से वंचित रखना चाहेगा?

अक्टूबर, 2020
देहरादून, भारत

विजय कुमार जैन

'प्रस्तावना' के संदर्भ ग्रन्थ

1. (1965), **श्री भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य विरचित पंचास्तिकाय प्राभृत - श्रीमदमृतचन्द्र सूरिकृत 'समयव्याख्या' नामक, श्रीमज्जयसेनाचार्य विरचित 'तात्पर्यवृत्ति' टीका तथा उनका हिन्दी शब्दार्थ,** श्री शांतिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्रीमहावीरजी.
2. टीका - आर्यिका श्री विशुद्धमति माताजी, सम्पादन - डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी (2008), **श्रीयतिवृषभाचार्य विरचित तिलोयपण्णत्ती,** श्री 1008 चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, देहरा-तिजारा (राजस्थान), तृतीय संस्करण.
3. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री (1992), **'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'**, आचार्य शान्तिसागर छाणी ग्रन्थमाला,, बुढ़ाना, मुजफ्फरनगर, चतुर्थ खण्ड, द्वितीय संस्करण.
4. पं. जुगलकिशोर मुख्तार (श्री वीर-निर्वाण संवत् 2451), **'श्रीमन्समन्तभद्रस्वामि-विरचितो रत्नकरण्डकश्रावकाचारः'**, मणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, हीराबाग, गिरगाांव, बम्बई.
5. अनुवादक-परिचायक - पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' (1951), **श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत युक्त्यनुशासन,** वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, प्रथम संस्करण.
6. अनुवादक-सम्पादक - डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन (2017), **श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-प्रणीतं युक्त्यनुशासनम् - श्रीमद्विद्यानन्दकृता युक्त्यनुशासनालङ्कारटीकया,** आचार्य कुन्दकुन्द जैन विद्या केन्द्र, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मन्दिर, कविनगर, गाजियाबाद.
7. क्षु. मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' (1977), **युक्त्यनुशासन प्रवचन,** श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, 185-ए रणजीतपुरी, सदर मेरठ.
8. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री (1991), **गृद्धपिच्छ आचार्य प्रणीत तत्त्वार्थसूत्र,** श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी, द्वितीय संस्करण.

विजय कुमार जैन - संक्षिप्त परिचय

श्री विजय कुमार जैन (जन्म 1951) की विद्यालयी शिक्षा मध्यप्रदेश के महू व भोपाल शहरों में सम्पन्न हुई। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (BHU, Varanasi) से इलेक्ट्रोनिक्स इंजीनियरिंग में स्नातक उपाधि प्राप्त की। तदुपरान्त प्रबंधन में स्नातकोत्तर शिक्षा भारतीय प्रबंध संस्थान, अहमदाबाद (IIM, Ahmedabad) से प्राप्त की। ई. सन् 1981 में आपने 'विकल्प प्रिन्टर्स' नामक संस्थान की स्थापना की।

प्रारम्भ में आपने विभिन्न विषयों पर कुछ मौलिक पुस्तकें लिखीं। लगभग दस वर्ष पूर्व महान् ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' का गहन स्वाध्याय करने के उपरान्त आपने परम पूज्य आचार्य विद्यानन्द मुनिराज (22 अप्रैल 1925 – 22 सितम्बर 2019) के मंगल आशीर्वाद व प्रेरणा से आत्महित के साथ-साथ पूर्वाचार्यों द्वारा वन्दित और प्रतिष्ठित माँ जिनवाणी में प्रतिपादित गूढ़ विषयों को आधुनिक युग के भव्य जीवों के हितान्वेषण के उपायस्वरूप अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने का उद्यम प्रारम्भ किया।

आपकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं-

1. *Marketing Management for Small Units* (1988)
2. **जैन धर्म : मंगल परिचय** (1994)
3. *From IIM-Ahmedabad to Happiness* (2006)
4. *Āchārya Umāsvāmi's* ***Tattvārthsūtra*** *– With Hindi and English Translation* (2011)
5. *Āchārya Kundkund's* ***Samayasāra*** *– With Hindi and English Translation* (2012)
6. *Shri Amritachandra Suri's* ***Puruṣārthasiddhyupāya*** *– With Hindi and English Translation* (2012)
7. *Ācārya Nemichandra's* ***Dravyasaṃgraha*** *– With Authentic Explanatory Notes* (2013)
8. *Ācārya Pūjyapāda's* ***Iṣṭopadeśa*** *– The Golden Discourse* (2014)
9. *Ācārya Samantabhadra's* ***Svayambhūstotra*** *– Adoration of the Twenty-four Tīrthaṅkara* (2015)
10. *Ācārya Samantabhadra's* ***Āptamīmāṃsā (Devāgamastotra)*** *– Deep Reflection On The Omniscient Lord* (2016)

11. *Ācārya Samantabhadra's **Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra** – The Jewel-casket of Householder's Conduct* (2016)
12. *Ācārya Pūjyapāda's **Samādhitantram** – Supreme Meditation* (2017)
13. *Ācārya Kundakunda's **Pravacanasāra** – Essence of the Doctrine* (2018)
14. *Ācārya Umāsvāmī's **Tattvārthasūtra** – With Explanation in English from Ācārya Pūjyapāda's **Sarvārthasiddhi*** (2018)
15. *Ācārya Kundakunda's **Niyamasāra** – The Essence of Soul-adoration (With Authentic Explanatory Notes)* (2019)
16. *Ācārya Guṇabhadra's **Ātmānuśāsana** – Precept on the Soul* (2019)
17. *Ācārya Kundakunda's **Pañcāstikāya-saṃgraha** – With Authentic Explanatory Notes in English* (2020)
18. **आचार्य समन्तभद्र विरचित स्तुतिविद्या (जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)** (2020)

अन्त के दो ग्रन्थ – 'आचार्य कुन्दकुन्द पञ्चास्तिकाय-संग्रह' (क्रमांक 17) और 'आचार्य समन्तभद्र विरचित स्तुतिविद्या' (क्रमांक 18) – की पूर्णता में परम पूज्य दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज की दिव्याशीष मंगल-निमित्त-कारण हुई।

'आचार्य समन्तभद्र विरचित स्तुतिविद्या' के अलावा प्रस्तुत कृति 'आचार्य समन्तभद्र विरचित युक्त्यनुशासन' का भी अंग्रेजी भाषा में अनुवाद नहीं किया गया है।

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद (१-१०)

अद्वितीय श्री वीर जिन शासन (भूमिका)

द्वितीय परिच्छेद (११-१७)

सौत्रान्तिक (बाह्यार्थनुमेयवाद) बौद्ध-दर्शन की मान्यता में दोष एवं उनका निराकरण

तृतीय परिच्छेद (१८-२४)

योगाचार (विज्ञानवाद, संवेदनाद्वैत) बौद्ध-दर्शन की मान्यता में दोष एवं उनका निराकरण

चतुर्थ परिच्छेद (२५-३४)

माध्यमिक (शून्यवाद) बौद्ध-दर्शन की मान्यता में दोष एवं उनका निराकरण

पंचम परिच्छेद (३५-३९)

चार्वाक (वार्हस्पतिक लोकायतिक) दर्शन एवं मीमांसक की मान्यताओं का खण्डन

षष्ठ परिच्छेद (४०-४७)

जैन दर्शनानुसार अनेकान्तात्मक-वस्तु-स्वरूप एवं स्याद्वाद विमर्ष

सप्तम परिच्छेद (४८-६०)

स्याद्वाद शासन ही सर्वमान्य : युक्त्यनुशासन

अष्टम परिच्छेद (६१-६४)

वर्धमान जिन-शासन ही सर्वोदय-तीर्थ

स्वयम्भुवे नमस्तुभ्यं ॥

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नमः ॥

आचार्य समन्तभद्र विरचित

युक्त्यनुशासन

अन्वयार्थ एवं व्याख्या सहित

आचार्य समन्तभद्र विरचित '**स्वयम्भूस्तोत्र**'-

अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।
इतरो न स्याद्वादो द्वितयविरोधान्मुनीश्वरास्याद्वादः ॥

(२४-३-१३८)

हे मुनिनाथ! (वीर जिन!) आपका जो स्याद्वाद (अनेकान्त-रूप कथन) है वह दोष-रहित है क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष (दृष्ट) व परोक्ष (आगम, अनुमानादि, इष्ट) के द्वारा विरोध नहीं आता है। वह स्याद्वाद, 'स्यात्' या कथंचित् (किसी अपेक्षा से) वाचक शब्द से सहित, वस्तु के स्वभाव को यथार्थ कहने वाला है। इसके विपरीत जो एकान्त-रूप कथन है वह प्रत्यक्ष (दृष्ट) व परोक्ष (इष्ट) से विरोध-रूप है। इसलिए वह स्याद्वाद-रूप नहीं है अर्थात् वस्तु के भिन्न-भिन्न स्वभावों को सिद्ध करने वाला नहीं है।

* श्री समन्तभद्राय नमः *

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत

युक्त्यनुशासन

प्रथम परिच्छेद (१-१०)

अद्वितीय श्री वीर जिन शासन (भूमिका)

मंगलाचरण - हे वीर जिन! हम आपकी स्तुति की अभिलाषा करते हैं-

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं
त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं
विशीर्णदोषाऽऽशयपाशबन्धम् ॥१॥

अन्वयार्थ - [**विशीर्णदोषाऽऽशय-पाश-बन्धम्**] आप दोषों और दोषाऽऽशयों के पाश-बन्धन (बेड़ियों) से विमुक्त हुए हैं, [**वर्द्धमानं**] आप निश्चित रूप से ऋद्धमान (प्रवृद्धप्रमाण, वृद्धिंगत) हैं, [**महत्या कीर्त्या**] और आप महती कीर्ति से [**भुवि वर्द्धमानं**] भूमण्डल पर वर्द्धमान हैं। [**अद्य**] अब [**वयं**] हम, [**त्वां वीरं**] हे वीर जिन! आपको [**स्तुतिगोचरत्वम्**] स्तुतिगोचर मानकर अपनी स्तुति का विषय बनाने के [**निनीषवः स्मः**] अभिलाषी हुए हैं।

हे वीर जिन! इस युग के अन्तिम तीर्थ-प्रवर्त्तक परम देव! आप दोषों और दोषाऽऽशयों के पाश-बन्धन से विमुक्त हुए हैं। आपने समस्त दोषों अर्थात् विभाव-परिणामरूप भावकर्मों (अज्ञान, अदर्शन, राग, द्वेष, काम, क्रोधादि विकारों) तथा दोषाऽऽशयों अर्थात् उनके संस्कारक कारणों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तरायरूप द्रव्यकर्मों) के

पाशबन्धन को छिन्न-भिन्न कर स्वतन्त्रता प्राप्त की है। आप निश्चित रूप से प्रवृद्धप्रमाण हैं। आपका अक्रमभावी केवलज्ञान, तथा स्याद्वाद तथा नय से संस्कृत आपकी क्रमभावी वाणी तत्त्वज्ञानरूप प्रमाण हैं। आपके वचन प्रवृद्ध हैं अर्थात् सर्वोत्कृष्ट एवं अबाध्य हैं। दोषों और दोषाऽऽशयों के पाश-बन्धन से विमुक्त तथा प्रवृद्धप्रमाण के कारण आप महती कीर्ति से भूमण्डल पर वर्द्धमान हैं। जीवादि पदार्थ जिसके द्वारा कीर्तित किये जाते हैं, ऐसी आपकी वाणी है जो 'युक्तिशास्त्राऽविरोधिनी' अर्थात् युक्ति (न्याय) और शास्त्र (आगम) से अविरोधी है। आप समवसरण भूमि पर साक्षात् तथा परम्परा से सम्पूर्ण पृथिवी पर, परमागम की विषयभूत पर-अपर सभी परीक्षकजनों के मनों को संशयादि के निरसन द्वारा पुष्ट एवं व्याप्त करते हुए, वृद्धि-व्याप्ति को प्राप्त हुए हैं। आप सदा, सर्वत्र और सभी के लिए 'युक्तिशास्त्राऽविरोधिवाक्'[1] के रूप में अवस्थित हैं, यह बात परीक्षा द्वारा सिद्ध हो चुकी है। अतः अब यह निर्णय करने के उपरान्त कि आप 'विषीर्णदोषाऽऽशयपाशबन्ध' हैं तथा आपकी वाणी 'युक्तिशास्त्राऽविरोधिनी' है, यह सिद्ध है कि आप तीन असाधारण गुणों – कर्मभेत्तृत्व, सर्वज्ञत्व और परमहितोपदेशकत्व – से विशिष्ट हैं।

आप्त भगवान् के यही तीन असाधारण गुण आचार्य उमास्वामी विरचित **'तत्त्वार्थसूत्र'** के मंगलाचरण में कहे गये हैं-

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

मोक्षमार्ग के प्रवर्तक, कर्मरूपी पर्वतों के भेदक अर्थात् नष्ट करने वाले, तथा विश्व के (समस्त) तत्त्वों के जानने वाले (आप्त) को उनके गुणों की प्राप्ति के हेतु मैं प्रणाम करता हूँ – वन्दना करता हूँ।

क्योंकि आप मोक्षमार्ग के प्रवर्तक हैं इसलिए आप में परमहितोपदेशकत्व है, आपने कर्मरूपी पर्वतों को नष्ट कर दिया है इसलिए आप में कर्मभेत्तृत्व है तथा आपने विश्व के (समस्त) तत्त्वों को जान लिया है इसलिए आप में सर्वज्ञत्व है।

आपको स्तुतिगोचर अर्थात् स्तुति का विषयभूत आप्तपुरुष स्वीकार करके हम परीक्षाप्रधानी पुरुषजन आपको अपनी स्तुति का विषय बनाने के अभिलाषी हुए हैं; आपकी स्तुति में प्रवृत्त होना चाहते हैं।

---

1. **स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।**
   अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥ (**'आप्तमीमांसा'**)

हे वीर जिन! आपकी स्तुति कैसे करें? आप अनन्त गुणों के समुद्र हैं-

याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाऽऽख्या
लोके स्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते ।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो
वक्तुं जिन! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥

अन्वयार्थ - [**याथात्म्यं**] यथार्थता का [**उल्लंघ्य**] उल्लंघन करके, [**गुणोदयाऽऽख्या**] गुणों के उदय-उत्कर्ष की जो आख्या-कथनी है, उसे [**लोके**] लोक में [**स्तुतिः**] 'स्तुति' कहा जाता है। परन्तु [**जिन**] हे वीर जिन! [**ते**] आप [**भूरिगुणोदधेः**] भूरिगुणोदधि (अनन्त गुणों के समुद्र) हैं और [**अणिष्ठं अंशं अपि**] उस गुणसमुद्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश का भी हम [**वक्तुं**] कथन करने के लिए [**अशक्नुवन्तः**] समर्थ नहीं हैं, तब हम (छद्मस्थजन) [**किमिव**] किस तरह [**त्वां**] आपकी [**स्तुयाम**] स्तुति करके स्तोता बनें?

यथार्थता का उल्लंघन करके गुणों के उदय-उत्कर्ष का लोक में जो कथन किया जाता है उसे 'स्तुति' कहते हैं। परन्तु हे वीर जिन! आप तो अनन्त गुणों के समुद्र हैं - 'अंतातीदगुणाणं'[1] - और उस गुणसमुद्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश का भी कथन करने के लिए हम असमर्थ हैं, तब हम आपकी स्तुति किस तरह करें?

बड़े-बड़े इन्द्र भी समस्त विद्याओं के स्वामी जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करने में अपने को असमर्थ पाते हुए बस यही कहते हैं -

> "हे जिननाथ! यह निश्चय है कि आपके विषय में की हुई भक्ति ही इष्ट फल देती है इसीलिए हम लोग बुद्धिहीन तथा मन्दवचन होकर भी गुणरूपी रत्नों के खजाने स्वरूप आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हो रहे हैं। हे भगवन्! जिन्हें बुद्धि की सामर्थ्य से कुछ वचनों का वैभव प्राप्त हुआ है ऐसे हम लोग केवल आपकी भक्ति ही

---

1. अन्त से अतीत (रहित) अर्थात् अनन्त गुण; देखें, मंगलाचरण, '**पंचास्तिकाय-संग्रह**'।

कर रहे हैं सो ठीक ही है क्योंकि जो पुरुष अमृत के समुद्र का सम्पूर्ण जल पीने के लिए समर्थ नहीं है वह क्या अपनी सामर्थ्य के अनुसार थोड़ा भी नहीं पीये? अर्थात् अवश्य पीये। हे देव! कहाँ तो जड़बुद्धि हम लोग और कहाँ आपका पापरहित बड़ा-भारी गुणरूपी समुद्र। हे जिनेन्द्र! यद्यपि इस बात को हम लोग भी जानते हैं तथापि इस समय आपकी भक्ति ही हम लोगों को वाचालित कर रही है। हे देव! यह आश्चर्य की बात है कि आपके जो बड़े-बड़े उत्तम गुण गणधरों के द्वारा भी नहीं गिने जा सके हैं उनकी हम स्तुति कर रहे हैं अथवा इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है क्योंकि जो मनुष्य आपकी प्रभुता को प्राप्त हुआ है वह क्या करने के लिए समर्थ नहीं है? अर्थात् सब कुछ करने में समर्थ है। इसलिए हे जिनेन्द्र! आपके विषय में उत्पन्न हुई अतिशय निगूढ़, निश्चल और अपरिमित गुणों का उदय करने वाली विशाल भक्ति ही हम लोगों को स्तुति करने के लिए इच्छुक कर रही है और इसीलिए हम लोग आपकी स्तुति करने के लिए उद्यत हुए हैं।"

– **'आदिपुराण'**, पृ. 557

आचार्य समन्तभद्र **'स्वयम्भूस्तोत्र'**[2] में भगवान् अरनाथ की स्तुति का प्रारम्भ इस प्रकार से करते हैं-

गुणस्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः ।
आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम् ॥ **(१८-१-८६)**

अर्थ – हे अरनाथ जिन! विद्यमान गुणों की अल्पता का उल्लंघन करके उन गुणों की अधिकता का कथन करना स्तुति कहलाती है। किन्तु आपके गुण तो अनन्त हैं इसलिए उनका वर्णन करना अशक्य है, तब आपकी स्तुति किस प्रकार संभव है?

---

2. देखें, *"Ācārya Samantabhadra's Svayambhūstotra – Adoration of The Twenty-four Tīrthaṅkara"*, p. 118

धृष्टतापूर्वक फिर भी आपकी स्तुति करता हूँ-

तथाऽपि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या
स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति
किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥३॥

अन्वयार्थ – [**तथापि**] फिर भी मैं [**भक्त्या**] भक्ति के वश [**वैयात्यं**] धृष्टता को [**उपेत्य**] धारण करके [**शक्त्यनुरूपवाक्यः**] शक्ति के अनुरूप वाक्यों को लिये हुए [**ते**] आपका [**स्तोता अस्मि**] स्तोता बना हूँ अर्थात् आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। [**पुरुषाः**] पुरुषार्थीजन [**इष्टे प्रमेये अपि**] इष्ट साध्य के होने पर [**यथास्वशक्ति**] अपनी शक्ति के अनुसार जैसे भी [**क्रियाभिः**] अपनी क्रियाओं-प्रयत्नों के द्वारा [**किं न उत्सहन्ते**] क्या उत्साहित एवं प्रवृत्त नहीं होते हैं?

यद्यपि हम छद्मस्थजन आपके छोटे से छोटे गुण का भी पूरा वर्णन करने में असमर्थ हैं तब भी मैं धृष्टता धारण करता हुआ केवल भक्ति के वश आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ।

देखिये किस प्रकार चक्रवर्ती सम्राट भरत ने सब भाषाओं के स्वामी भगवान् वृषभदेव को अपने दोनों घुटने जमीन पर रखकर नमस्कार किया था और फिर वचनरूपी पुष्पों की मालाओं से उनकी स्तुति की थी –

> "...हे नाथ! ऐसे-ऐसे आपके अनन्त गुण माने गये हैं, परन्तु हे ईश! अल्पबुद्धि को धारण करने वाला मैं उन सब की लेशमात्र भी स्तुति करने के लिए समर्थ नहीं हूँ। इसलिए हे देव! आपके गुणों का स्तोत्र करना तो दूर रहा, आपका लिया हुआ नाम ही हम लोगों को पवित्र कर देता है अतएव हम लोग केवल नाम लेकर ही आपके आश्रय में आये हैं।...
>
> ...हे अविनाशी! आपकी भक्ति से प्रेरित हुई अपनी इस बुद्धि को मैं स्वयं धारण करने

के लिये समर्थ नहीं हो सका इसलिए ही आज आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। भावार्थ– योग्यता न रहते हुए भी मात्र भक्ति से प्रेरित होकर आपकी स्तुति कर रहा हूँ। हे प्रभो! आपके द्वारा दिखलाये हुए मार्ग की उपासना कर मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करने वाले और देव मानकर आपकी ही उपासना करने वाले हम लोगों पर प्रसन्न होइए और अनुग्रह कीजिए। हे भगवन्! इस प्रकार लोकोत्तर वैभव को धारण करने वाले आपकी स्तुति कर हम लोग यही चाहते हैं कि हम लोगों की बड़ी भारी भक्ति आप में ही रहे, इसके सिवाय हम और कुछ नहीं चाहते।"

– **'आदिपुराण'**, पृ. 580-581

आचार्य समन्तभद्र **'स्वयम्भूस्तोत्र'**[1] में भगवान् पद्मप्रभ की स्तुति करने में अपने को असमर्थ मानते हुए, अपनी परम भक्ति का ही आश्रय लेते हैं–

गुणाम्बुधेर्विप्रुषमप्यजस्रं नाखण्डलः स्तोतुमलं तवर्षेः ।
प्रागेव मादृक् किमुतातिभक्तिर्मां बालमालापयतीदमित्थम् ।। (६-५-३०)

अर्थ – जब पहले से ही इन्द्र आप परम ऋषि के गुणों के सागर (समूह) की एक बूँद (अंश-मात्र) की भी निरन्तर स्तुति करने के लिए समर्थ न हो सका तब मेरे समान अल्पज्ञानी आपकी कैसे स्तुति कर सकता है? अर्थात् मैं तो असमर्थ ही हूँ। परन्तु आप में जो मेरी परम भक्ति है वही मुझ बालक-सम अज्ञानी को आप ऐसे हैं व इस प्रकार हैं, ऐसा स्तवन करने के लिए प्रेरणा कर रही है।

---

1. देखें, *"Ācārya Samantabhadra's Svayambhūstotra – Adoration of The Twenty-four Tīrthańkara"*, p. 41

हे वीर जिन! आप ही शुद्ध, शक्तिमान, उपमारहित एवं शांत-स्वरूप हैं-

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुलाव्यतीतां जिन! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

अन्वयार्थ - [**जिन!**] हे वीर जिन! [**त्वं**] आप [**शुद्धिशक्त्योः**] शुद्धि और शक्ति के [**उदयस्य काष्ठां**] उदय की उस पराकाष्ठा (चरमसीमा) को [**अवापिथ**] प्राप्त हुए हैं [**तुलाव्यतीतां**] जो उपमा रहित है तथा [**शान्तिरूपाम्**] शान्ति-सुख स्वरूप है। [**ब्रह्मपथस्य नेता**] आप ब्रह्मपथ (आत्मविकास पद्धति अर्थात् मोक्षमार्ग) के नेता हैं, [**महान्**] महान् हैं और [**इति**] इस प्रकार [**इयत्**] इतना ही [**प्रतिवक्तुं**] आपके प्रति कहने के लिए [**ईशाः**] हम समर्थ हैं।

हे वीर जिन! आपमें ज्ञानावरण और दर्शनावरण रूप कर्ममल के क्षय से अनुपमेय निर्मल ज्ञान-दर्शन का तथा अन्तराय कर्म के अभाव से अनन्तवीर्य का आविर्भाव हुआ है। और मोहनीय कर्म के पूर्णतः विनाश होने से आप परम शान्ति-स्वरूप सुखात्मक अवस्था को प्राप्त हुए हैं। इसी से आप ब्रह्मपथ (आत्मविकास का मार्ग अथवा मोक्षमार्ग) के नेता तथा महान् (पूज्य) परमात्मा हैं। अपने आदर्श एवं उपदेशादि के द्वारा आप दूसरों को उस उत्तम मार्ग पर लगाने वाले हैं। इतना ही कहने अथवा दूसरों को सिद्ध करके बतलाने के लिए हम समर्थ हैं।

आचार्य अकलंकदेव **'तत्त्वार्थवार्तिकम्'** में आचार्य उमास्वामी-विरचित **'तत्त्वार्थसूत्र'** के दसवें अध्याय के प्रथम सूत्र **'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम् ।'** की व्याख्या करते हुए केवली भगवान् में शुद्धि और शक्ति के उदय की पराकाष्ठा का वर्णन इस प्रकार से करते हैं-

"संवर के द्वारा जिसकी परम्परा की जड़ काट दी गई है और चारित्र-ध्यानाग्नि के द्वारा

जिसकी सत्ता का सर्वथा लोप कर दिया है उस मोहनीय का क्षय हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होते ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ 'उत्पन्न होता है ऐसा उपदेश दिया गया है', इस वाक्यशेष का अन्वय कर लेना चाहिये।

...(साधक) समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीणकषाय गुणस्थान में मोहनीय का समस्त भार उतार कर फैंक देता है। वह उपान्त्य समय में निद्रा-प्रचला का क्षय करके पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायों का अन्त समय में विनाश कर अचिन्त्यविभूतियुक्त केवलज्ञान-दर्शनस्वभाव को निष्प्रतिपक्षीरूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त और निरुपलेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्त्ती सर्व द्रव्य-पर्यायों का ज्ञाता, सर्वत्र अप्रतिहत, अनन्तदर्शनशाली, कृतकृत्य, मेघपटलों से विमुक्त शरत्कालीन पूर्णचन्द्र की तरह सौम्यदर्शन और प्रकाशमानमूर्ति केवली हो जाता है।"

– **'तत्त्वार्थवार्तिकम्'**, पृ. 800-801

कलिकाल, नय की अज्ञानता एवं कलुषित अभिप्राय ही आपके शासन के अपवाद के हेतु हैं-

कालः कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा
श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो[1] वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-
प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥५॥

अन्वयार्थ - [**त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेः**] आपके शासन में एकाधिपतित्व रूप लक्ष्मी (वैभव) की प्रभुता की जो शक्ति है उसके [**अपवादहेतुः**] अपवाद का कारण [**कलिः कालः वा**] या तो कलिकाल है [**वा**] या (दूसरा) [**श्रोतुः**] श्रोता का [**कलुषाऽऽशयः**] कलुषित आशय है [**वा**] या (तीसरा) [**प्रवक्तुः**] प्रवक्ता का [**वचनाऽनयः**] वचनाऽनय (नय-निरपेक्ष वचन व्यवहार) है।

हे वीर जिन! आप ब्रह्मपथ (मोक्षमार्ग) के नेता तथा महान् (पूज्य) परमात्मा हैं। आपके अनेकान्तात्मक शासन में निःश्रेयस (मोक्ष) और अभ्युदयरूप (सांसारिक सुख-रूप) लक्ष्मी की प्राप्ति का कारण दर्शाया गया है। आपके शासन में एकाधिपतित्वरूप लक्ष्मी का स्वामी होने की जो शक्ति है उसके अपवाद (एकाधिपतित्व प्राप्त न कर सकने) के तीन कारण हैं-

1. कलिकाल का होना। यह साधारण बाह्य कारण है।
2. श्रावकादि श्रोतृवर्ग का कलुषित आशय का होना। श्रोतृवर्ग प्रायः दर्शनमोह से आक्रान्त चित्त वाला होने से उपादेय-हेय में भेद करने में असमर्थ रहता है। यह अन्तरंग कारण है।
3. प्रवक्ता का वचनाऽनय अर्थात् नय-निरपेक्ष वचन-व्यवहार का होना। आचार्यादि प्रवक्तृवर्ग का प्रायः अप्रशस्त-निरपेक्ष नय के साथ वचन-व्यवहार अर्थात् सम्यक् नय-विवक्षा को लिए हुए उपदेश का न देना। यह असाधारण बाह्य कारण है।

---

1. पाठान्तर - **प्रवक्तुर्वचनाशयो**

आचार्य गुणभद्रस्वामी **'आत्मानुशासन'**[1] ग्रन्थ में कलिकाल का प्रभाव इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

> **लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा ।**
> **दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः ॥१४३॥**

अर्थ – पूर्व काल में जिस धर्म के आचरण से इस लोक और परलोक दोनों ही लोकों में हित होता है उस धर्म का व्याख्यान करने के लिये तथा उसे सुनने के लिये भी बहुत से जन सरलता से उपलब्ध होते थे, परन्तु तदनुकूल आचरण करने के लिये उस समय भी बहुत जन दुर्लभ ही थे। किन्तु वर्तमान में तो उक्त धर्म का व्याख्यान करने के लिये और सुनने के लिये भी मनुष्य दुर्लभ हैं, फिर उसका आचरण करने वाले तो दूर ही रहे।

---

1. *'Ācārya Guṇabhadra's Ātmānuśāsana – Precept on the Soul'*, p. 117.

आपका शासन दया, संयम, त्याग एवं ध्यान से निष्ठ है-

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं
नयप्रमाणप्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

अन्वयार्थ - [**जिन**] हे वीर जिन! [**त्वदीयं मतम्**] आपका मत **(अनेकान्तात्मक शासन)** [**दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठम्**] दया (अहिंसा), दम (इन्द्रियदमन, संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन), समाधि (प्रशस्तध्यान) से निष्ठ (पूर्ण) है। [**नय-प्रमाण-प्रकृताऽऽञ्जसार्थम्**] नय और प्रमाण से सम्यक् वस्तुतत्त्व (पदार्थों) को बिल्कुल स्पष्ट (सुनिश्चित) करने वाला है और [**अन्यैः अखिलैः प्रवादैः**] (अनेकान्तवाद से भिन्न्न) अन्य सभी प्रवादों से [**अधृष्यम्**] अबाध्य (जीता नहीं जा सकने वाला) है। इसीलिये वह [**अद्वितीयम्**] अद्वितीय है।

हे वीर जिन! आपका **अनेकान्तात्मक शासन** दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि (प्रशस्तध्यान) को निष्ठा-तत्परता से लिये हुए है।

पूर्णतः अथवा देशतः प्राणीहिंसा से निवृत्ति तथा परोपकार में प्रवृत्तिरूप दया (अहिंसा) व्रत है। इसी में असत्यादि से विरक्तिरूप सत्यव्रतादि का अन्तर्भाव (समावेश) है।

मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रिय विषयों में राग-द्वेष की निवृत्तिरूप दम अर्थात् संयम है।

बाह्य और आभ्यान्तर परिग्रहों का स्वेच्छा से त्यजन त्याग है।

धर्मध्यान और शुक्लध्यान - इन दो प्रकार के प्रशस्त ध्यान को समाधि की संज्ञा दी गई है।

ये चारों ही आपके मत के प्रधान लक्षण हैं। दया के होने पर दम अर्थात् संयम की उत्पत्ति होती है। दम के होने पर त्याग घटित होता है। त्याग समाधि का निमित्त है।

दर्शनमोहोदय के वशीभूत हुए सर्वथा एकान्तवादियों के द्वारा प्रकल्पित वादों में से कोई भी वाद आपके द्वारा प्रतिपादित सम्यग्वाद के विषय को बाधित अथवा दूषित करने के लिए

समर्थ नहीं है। सर्व प्रकार से प्रमाण और नय से निर्णीत अर्थ को ही स्वीकार करना आपके मत की विशेषता है। वह अकेला ही सर्वाधिनायक होने की क्षमता रखता है।

आचार्य गुणभद्रस्वामी **'आत्मानुशासन'**[1] ग्रन्थ में कहते हैं-

> **दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।**
> **नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥**

अर्थ – हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भाव से दया, इन्द्रियदमन, त्याग (दान) और ध्यान की परम्परा के मार्ग में प्रवृत्त हो जा। वह मार्ग निश्चय से किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचन से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पों से रहित है।

---

1. *'Ācārya Guṇabhadra's Ātmānuśāsana – Precept on the Soul'*, p. 90.

आपके स्याद्वाद शासन में जीवादि-वस्तुतत्त्व अभेद-भेदात्मक है-

अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं
तव स्वतन्त्राऽन्यतरत् खपुष्पम् ।
अवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः
संसर्गहानेः सकलार्थहानिः ॥७॥

अन्वयार्थ - हे वीर भगवन्! [**तव**] आपका [**अर्थतत्त्वम्**] अर्थतत्त्व (जीवादि-वस्तुतत्त्व) [**अभेद-भेदात्मकम्**] **अभेद-भेदात्मक** है। (**अभेदात्मकतत्त्व** और **भेदात्मकतत्त्व**) [**स्वतन्त्राऽन्यतरत्**] दोनों को स्वतन्त्र (पारस्परिक तन्त्रता से रहित, सर्वथा निरपेक्ष) स्वीकार करने पर [**खपुष्पम्**] प्रत्येक आकाश-पुष्प के समान (अवस्तु) हो जाता है। उनमें [**समवायवृत्तेः**] समवायवृत्ति के [**अवृत्तिमत्त्वात्**] अवृत्तिमती होने से (समवाय नाम के स्वतन्त्र पदार्थ का दूसरे पदार्थों के साथ स्वयं का कोई सम्बन्ध न बन सकने के कारण) [**संसर्गहानेः**] संसर्ग (एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध) की हानि होती है और संसर्ग की हानि होने से [**सकलार्थ-हानिः**] सम्पूर्ण पदार्थों की हानि ठहरती है।

हे वीर जिन! परस्परतन्त्रता (सापेक्षता) को लिये हुए आपके शासन में वर्णित अर्थतत्त्व (जीवादि-वस्तुतत्त्व) अभेद-भेदात्मक है अर्थात् अभेद और भेद दोनों रूप है। कथञ्चित् द्रव्य-पर्यायरूप, कथञ्चित् सामान्य-विशेषरूप, कथञ्चित् एक-अनेकरूप, और कथञ्चित् नित्य-अनित्यरूप है। न सर्वथा अभेदरूप (द्रव्य, सामान्य, एक अथवा नित्यरूप) है और न सर्वथा भेदरूप (पर्याय, विशेष, अनेक अथवा अनित्यरूप) है। अर्थतत्त्व उभयरूप (परस्पर-निरपेक्ष द्रव्य-पर्यायमात्र, सामान्य-विशेषमात्र, एक-अनेकमात्र, और नित्य-अनित्यमात्र) भी नहीं है। अभेदात्मकतत्त्व (द्रव्यादिक) और भेदात्मकतत्त्व (पर्यायादिक) दोनों को स्वतन्त्र (सर्वथा निरपेक्ष) स्वीकार करने पर प्रत्येक - द्रव्य, पर्याय और उभय; सामान्य, विशेष और उभय; एक, अनेक और उभय; तथा नित्य, अनित्य और उभय - आकाश-पुष्प के समान (अवस्तु) हो जाता है। प्रतीयमान (प्रतीति का विषय) न हो सकने से किसी का भी तब अस्तित्व नहीं बनता।

वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय - इन छह पदार्थों को स्वीकार करते हैं। इन छह पदार्थों में सामान्य और विशेष नामक पदार्थ द्रव्य, गुण, कर्म आदि से भिन्न माने गये हैं। दूसरे शब्दों में, वैशेषिक मत के अनुसार पदार्थों में सामान्य-विशेष का ज्ञान पदार्थों का गुण (धर्म) नहीं है, बल्कि यह ज्ञान सामान्य और विशेष नाम के भिन्न पदार्थों से होता है। उदाहरण के लिए घटत्व घट का गुण नहीं है, यह घट में समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार नील-पीत आदि भी घट के गुण नहीं है, वे भी घट में समवाय सम्बन्ध से रहते हैं। जैनदर्शन **अनेकान्तात्मक (सामान्यविशेषात्मक)** है, इसलिए वह वैशेषिकों के इस सिद्धान्त का खण्डन करता है। जैनदर्शन के अनुसार पदार्थों में स्वभाव से ही सामान्य-विशेष की प्रतीति होती है क्योंकि सामान्य-विशेष पदार्थों के ही गुण हैं, कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। धर्मी से धर्म भिन्न नहीं हो सकता, अतएव सामान्य-विशेष को भिन्न पदार्थ स्वीकार करना अयुक्तियुक्त है।

समवाय नाम के स्वतन्त्र पदार्थ का दूसरे पदार्थों के साथ स्वयं का कोई सम्बन्ध न बन सकने के कारण अर्थात् समवायवृत्ति के अवृत्तिमती होने से संसर्ग (एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध) की हानि होती है। और संसर्ग की हानि होने से अर्थात् पदार्थों का परस्पर में स्वतः (स्वभाव से) अथवा परतः (दूसरे के निमित्त से) कोई सम्बन्ध न बन सकने के कारण सम्पूर्ण पदार्थों की हानि ठहरती है। इस प्रकार संसर्ग की हानि होने से किसी भी पदार्थ की सत्ता अथवा व्यवस्था नहीं बन सकती।

> गुण और गुणी में सर्वथा भेद मानने पर द्रव्य का अभाव हो जायेगा अथवा अनन्त द्रव्य हो जायेंगे। समवाय सम्बन्ध से गुण और गुणी में अभेद मानने पर अनवस्था[1] दोष आता है, ऐसी स्थिति में समवाय सम्बन्ध से कैसे अभेद हो सकता है?
>
> - **'णयचक्को'**, गाथासूत्र 47, पृ. 24

---

1. उदाहरण व्यक्तिरूप होता है परन्तु व्याप्ति सामान्यरूप से सर्व देश-काल की उपसंहार वाली होती है। अतः उस उदाहरण में भी विवाद होने पर अन्य दृष्टान्त की आवश्यकता पड़ने से अनवस्था दोष प्राप्त होगा। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, 3 : 36, पृ. 87-88)
   अनवस्था (ठहराव नहीं) - एक से दूसरे की, दूसरे से तीसरे की और तीसरे से चौथे की उत्पत्ति, इस तरह कहीं भी ठहराव नहीं होना। जेसे ईश्वर-कर्तृत्व में अनवस्था दोष आता है; क्योंकि संसार का कर्ता ईश्वर है, ईश्वर का कर्ता अन्य है और उस अन्य का कर्ता कोई दूसरा ही है। इस प्रकार कल्पनाओं का कहीं विराम न होना अनवस्था दोष है। (देखें, **'आलापपद्धति'**, पृ. 116-117)

गुणों से द्रव्य को और द्रव्य से गुणों को भिन्न मानने पर द्रव्य का अभाव और द्रव्य की अनन्तता का दूषण आता है।

गुण वास्तव में किसी के आश्रय से रहते हैं जिसके आश्रय से वे रहते हैं वही द्रव्य है। यदि द्रव्य गुण से भिन्न हो तो फिर भी गुण किसी के आश्रय से ही रहेंगे और जिसके आश्रित वे होंगे वही द्रव्य है। वह भी यदि गुणों से भिन्न हो तो फिर भी गुण किसी के आश्रय से ही रहेंगे और जिसके आश्रित वे होंगे वही द्रव्य है। यह धारा अनन्त चलती रहेगी। इस प्रकार द्रव्य की अनन्तता का प्रसंग आता है। द्रव्य तो गुणों का समुदाय है। यदि समुदाय से गुण भिन्न हैं तो फिर समुदाय कहाँ रहा? इस तरह गुणों को द्रव्य से भिन्न मानने पर द्रव्य का अभाव होता है।

गुण और गुणी (द्रव्य) में प्रदेश भेद नहीं है। जैसे अत्यन्त दूरवर्ती सह्य और विन्ध्यपर्वत में प्रदेशभेद होने से भेद है तथा अत्यन्त निकटवर्ती मिले हुए दूध-पानी में प्रदेशभेद होते हुए भी अभेद है, उस प्रकार का भेद और अभेद द्रव्य और गुण में नहीं है, क्योंकि उनमें प्रदेशभेद नहीं है। वस्तुरूप से भेद और वस्तुरूप से अभेद के उदाहरण इस प्रकार से हैं-

वस्तुरूप से भेद का उदाहरण- धन के योग से धनी व्यवहार होता है। यहाँ धन के अस्तित्व आदि धनी पुरुष के अस्तित्व आदि से भिन्न हैं।

वस्तुरूप से अभेद का उदाहरण- ज्ञान के योग से ज्ञानी व्यवहार होता है। यहाँ ज्ञान के अस्तित्व आदि और ज्ञानी के अस्तित्व आदि एक ही हैं, अलग नहीं हैं। यदि ज्ञानी ज्ञान से सर्वथा भिन्न हो और ज्ञान ज्ञानी से सर्वथा भिन्न हो तो दोनों को ही अचेतनपना आता है। यदि ज्ञान और ज्ञानी को जुदा-जुदा मानकर उनका संयोग माना जायेगा तो बिना गुणों के द्रव्य की शून्यता का प्रसंग आता है और बिना द्रव्य के निराधार होने से गुणों की शून्यता का प्रसंग आता है।

यदि ज्ञान और ज्ञानी का समवाय सम्बन्ध माना जाता है; जैसा कि नैयायिक-वैशेषिक दर्शन वाले मानते हैं तो वह भी ठीक नहीं है। ऐसी अवस्था में प्रश्न उत्पन्न होता है कि ज्ञान के समवाय सम्बन्ध से पहले आत्मा ज्ञानी था या अज्ञानी? यदि ज्ञानी था तो ज्ञान का समवाय मानना व्यर्थ है। यदि अज्ञानी था (है) तो अज्ञान के समवाय से अज्ञानी है अथवा अज्ञान के साथ एकत्व होने से अज्ञानी है? अज्ञान के समवाय से तो अज्ञानी हो नहीं सकता क्योंकि जो स्वयं अज्ञानी है उसमें अज्ञान का समवाय मानना निष्फल है। और ज्ञान का समवाय न होने से ज्ञानी तो वह है ही नहीं। अत: 'अज्ञानी' यह शब्द अज्ञान के साथ एकत्व को अवश्य ही सिद्ध करता है और इस प्रकार अज्ञान के साथ एकत्व के सिद्ध होने

पर ज्ञान के साथ भी एकत्व अवश्य सिद्ध होता है। अतः द्रव्य और गुण का एक ही अस्तित्व होने से उन दोनों में जो अनादि-अनन्त सहवृत्तिपना है वही जैनों का समवाय सम्बन्ध है, उससे भिन्न समवाय नाम का कोई सम्बन्ध नहीं है।

जैनों के मतानुसार द्रव्य और गुणों में संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद होने पर भी वस्तुरूप से भेद नहीं है इसलिए वे दोनों अभिन्न हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन वाले युतसिद्धों का संयोग सम्बन्ध और अयुतसिद्धों का समवाय सम्बन्ध मानते हैं। जैसे दण्ड और पुरुष युतसिद्ध हैं, उनका अस्तित्व जुदा-जुदा है, अतः उन दोनों का संयोग सम्बन्ध है और ज्ञान तथा आत्मा का अस्तित्व भी यद्यपि जुदा है, तथापि वे दोनों अयुतसिद्ध हैं अतः उनका समवाय सम्बन्ध है, ऐसा उनका मत है। किन्तु जैन मत कहता है कि ज्ञान तथा आत्मा या गुण-गुणी का अस्तित्व जुदा है ही नहीं; जो गुण के प्रदेश हैं वे ही गुणी के प्रदेश हैं और जो गुणी के प्रदेश हैं वे ही गुण के प्रदेश हैं। इस प्रकार उनमें प्रदेश-भेद न होने से भेद नहीं है। किन्तु फिर भी गुण और गुणी में नाम-भेद पाया जाता है, लक्षण-भेद पाया जाता है, संख्या-भेद पाया जाता है; इस दृष्टि से वे भिन्न भी हैं, किन्तु वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं। (देखें- **'णयचक्को'**, पृ. 24-25)

जो लोग इस संसर्ग की हानि को अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों की हानि को नहीं चाहते, उनके द्वारा वही वस्तुतत्त्व समर्थनीय है जो अभेद-भेदात्मक है, परस्पर-तन्त्र है, प्रतीति का विषय है तथा अर्थक्रिया में समर्थ है। यह वस्तुतत्त्व, हे वीर जिन! आपके मत में प्रतिष्ठित है, इसी से आपका मत अद्वितीय है; नयों तथा प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला और दूसरे सभी प्रवादों (सर्वथा एकान्तवादों) से अबाध्य होने के कारण सुव्यवस्थित है। दूसरा कोई भी मत इस प्रकार से व्यवस्थित न होने के कारण आपके मत के समान नहीं है।

अन्य एकान्त मतों में बन्ध, मोक्ष आदि घटित नहीं होते हैं-

भावेषु नित्येषु विकारहाने-
र्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः ।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः
समन्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥८॥

अन्वयार्थ - [**नित्येषु भावेषु**] (सत्तात्मक) पदार्थों को नित्य मानने पर उनमें [**विकारहानेः**] विकार की हानि होती है, [**न कारक-व्यापृत-कार्ययुक्तिः**] (विकार की हानि होने से) कारकों के व्यापार नहीं बन सकता, कारक-व्यापार के अभाव में कार्य नहीं बन सकता और कार्य के अभाव में युक्ति घटित नहीं हो सकती। [**बन्धभोगौ न**] (युक्ति के अभाव में) बन्ध तथा भोग दोनों नहीं बन सकते हैं [**तद्विमोक्षः न च**] और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है। अतः (हे वीर जिन!) [**अन्यदीयं मतं**] आपके मत से भिन्न अन्यों का मत (शासन) [**समन्तदोषं**] सब प्रकार से दोषरूप है।

सत्तात्मक पदार्थों को अर्थात् दिक्-काल-आकाश-आत्मा-मन को, पृथिवी आदि परमाणु द्रव्यों को, परम महत् आदि गुणों को और सामान्य-विशेष-समवाय को, सर्वथा नित्य मानने पर उनमें विकार की हानि होती है, कोई भी प्रकार की विक्रिया नहीं बन सकती।[1] विकार की हानि होने से कर्ता आदि कारकों का (जो क्रियाविशिष्ट द्रव्य प्रसिद्ध हैं,

1. वैशेषिक दर्शन सात पदार्थों को मानता है जिनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये छह पदार्थ तो भावात्मक हैं और अभाव नामक सातवाँ पदार्थ अभावात्मक है। (**'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, पृ. 15-16)
वैशेषिक दर्शन के अनुसार जिसमें गुण और क्रिया पायी जाती है, जो कार्य का समवायी कारण है उसको द्रव्य कहते हैं। इसके नौ भेद हैं - पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। जो द्रव्य के आश्रित हो ओर स्वयं गुण-रहित हो तथा संयोग विभाग का निरपेक्ष कारण न हो वह गुण कहलाता है। इसके चौबीस भेद हैं - रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, वेग, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संस्कार। (**'प्रमेयकमल मार्तण्ड'**, भाग-1, पृ. 661)

उनका) व्यापार नहीं बन सकता; कारक-व्यापार के अभाव में (द्रव्य-गुण-कर्मरूप) कार्य नहीं बन सकता; और कार्य के अभाव में (कार्यलिंगात्मक अनुमानरूप तथा योग-सम्बन्ध-संसर्गरूप) युक्ति घटित नहीं हो सकती। युक्ति के अभाव में बन्ध तथा (बन्ध-फलानुभवनरूप) भोग दोनों नहीं बन सकते हैं और न उनका विमोक्ष ही बन सकता है, क्योंकि विमोक्ष बन्धपूर्वक ही होता है; बन्ध के अभाव में मोक्ष कैसा? इस तरह पूर्व-पूर्व के अभाव में उत्तरोत्तर व्यवस्था न बन सकने से सम्पूर्ण भावात्मक पदार्थों की हानि ठहरती है; किसी की भी व्यवस्था नहीं बन सकती। और जब भावात्मक पदार्थ ही व्यवस्थित नहीं होते तब प्रागभाव-प्रध्वंसाभावादि[2] अभावात्मक पदार्थों की व्यवस्था तो कैसे बन सकती है? क्योंकि वे भावात्मक पदार्थों के विशेषण होते हैं, स्वतन्त्र रूप से उनकी कोई सत्ता ही नहीं है। अत: (हे वीर जिन!) आपके मत (शासन) से भिन्न अन्यों का - सर्वथा एकान्तवादी वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक तथा सांख्य आदि का - मत (शासन) सब प्रकार से दोषरूप है। वह देश, काल और पुरुष विशेष की अपेक्षा से भी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम-गम्य सभी स्थानों में बाधित है।

'जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है वह सत् है।' अतएव वस्तु का स्वभाव नित्य, अनित्य आदि अनेक धर्मों के धारक स्याद्वाद की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो उत्पत्ति और नाश से रहित हो, और सदा एकसा रहे। कूटस्थ नित्यत्व में

---

2. वस्तु की उत्पत्ति के पहले जो जो अभाव रहता है, वह प्रागभाव है। पदार्थ के नाश होने के बाद का जो अभाव है, वह प्रध्वंसाभाव है। (**'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, पृ. 111)
पदार्थों के भाव (अस्तित्व) का एकान्त - पदार्थ सर्वथा सत्-रूप ही है - ऐसा भावैकान्त मानने पर अभाव पदार्थों (प्रागभाव आदि) का लोप ठहरता है और इन चार प्रकार के वस्तु धर्मों का लोप करने से वस्तु-तत्त्व सब-रूप (सर्वात्मक), अनादि, अनन्त और अस्वरूप हो जाता है जो आपका मत नहीं है। प्रागभाव (प्राक्+अभाव) का यदि लोप किया जाए तो घट आदि कार्य-रूप द्रव्य अनादि - उत्पत्ति-विहीन - हो जाता है और यदि प्रध्वंसाभाव का लोप किया जाए तो वह कार्य-रूप द्रव्य अनन्त - विनाश-विहीन - हो जाता है। यदि अन्यापोह - अन्योन्याभाव अथवा इतरेतराभाव - का व्यतिक्रम किया जाए अर्थात् अन्योन्याभाव के न मानने पर किसी का जो एक इष्ट तत्त्व है वह अभेदरूप सर्वात्मक हो जाएगा। तथा अत्यन्ताभाव के न मानने पर एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में समवाय-सम्बन्ध (तादात्म्य) स्वीकृत होता है। ऐसा होने पर किसी भी इष्ट तत्त्व का सर्वथा भेदरूप से कोई व्यपदेश (कथन) - जैसे यह चेतन है, और यह अचेतन है - नहीं हो सकेगा। (देखें, ***'Āptamīmāṃsā'***, का. 9-11, पृ. 19-24)

उत्पत्ति और नाश का होना सम्भव नहीं। 'पदार्थ के स्वरूप का नाश नहीं होना नित्यत्व है,' जैनदर्शन द्वारा मान्य नित्यत्व का यही लक्षण ठीक है। क्योंकि उत्पाद और विनाश के रहते हुए जो अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता वही नित्य है। जैनदर्शन नित्यत्व को सर्वथा नित्य न मानकर उत्पाद-व्यय सहित नित्य अर्थात् आपेक्षिक नित्य मानता है। कहीं भी द्रव्य और पर्याय अलग-अलग नहीं पाये जाते; द्रव्य को छोड़कर पर्याय का और पर्याय को छोड़कर द्रव्य का अस्तित्व सम्भव नहीं। अतएव द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है, और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य; इस तरह नित्य और अनित्य दोनों साथ रहते हैं।

अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण है। अर्थ माने कार्य और उसकी क्रिया माने करना अर्थात् कार्य को करने का नाम 'अर्थक्रिया' है। जिसमें अर्थक्रिया होती है वही परमार्थ सत् है, ऐसा सभी मानते हैं। वस्तु को एकान्त (सर्वथा) नित्य अथवा एकान्त अनित्य स्वीकार करने से यह लक्षण घटित नहीं होता। वैशेषिकों के अनुसार कुछ पदार्थ सर्वथा नित्य हैं और कुछ पदार्थ सर्वथा अनित्य। वे लोग जिसका कभी नाश न हो, जो उत्पन्न न हो, और जो सदा एकरूप रहे, उसको सर्वथा नित्य मानते हैं। अब यदि नित्य वस्तु वास्तव में कोई वस्तु है तो उसमें अर्थक्रियाकारित्व होना चाहिये। वैशेषिकों के मान्य नित्य पदार्थ में अर्थक्रियाकारित्व के अभाव होने पर नित्य पदार्थ अवस्तु ठहरता है।

नित्य द्रव्य में यदि गमनरूप क्रिया मानी जाती है तो वह नित्य नहीं हो सकता, क्योंकि जब वह गमन को छोड़कर स्थिति करेगा तो अनित्य कहलायेगा। ऐसी स्थिति में सर्वथा नित्य आत्मा शुभ और अशुभ क्रिया का कर्ता कैसे हो सकता है? वह यदि दान, पूजा, हिंसा, चोरी आदि क्रियाओं का कर्ता है तो सर्वथा नित्य नहीं है, क्योंकि सर्वथा नित्य वही हो सकता है जिसके स्वभाव में भी परिणमन नहीं होता। यदि कहो कि उपचार से क्रिया मानेंगे तो वह उपचरित क्रिया वास्तविक है या अवास्तविक है? यदि वास्तविक है तो नित्य सर्वथा नित्य कैसे कहा जायेगा? यदि क्रिया अवास्तविक है तो अवास्तविक क्रिया काल्पनिक ही हुई, उससे नित्य में वास्तविक शुभाशुभ क्रिया कैसे हो सकती है? (देखें- **'णयचक्को'**, पृ. 24)

एकान्त मतों की सिद्धि स्वभाव हेतु से संभव नहीं है-

अहेतुकत्वं-प्रथितः स्वभाव-
स्तस्मिन् क्रियाकारकविभ्रमः स्यात् ।
आबालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धि-
र्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ।।९।।

अन्वयार्थ - (यदि नित्य पदार्थों में विकारी होने का) [**स्वभावः**] स्वभाव [**अहेतुकत्वं-प्रथितः**] बिना किसी हेतु के ही प्रसिद्ध है (तो ऐसी दशा में) [**तस्मिन्**] उसमें [**क्रियाकारक-विभ्रमः**] क्रिया और कारक का विभ्रम [**स्यात्**] ठहरता है। यदि [**आबालसिद्धेः**] आबाल-सिद्धि (बालगोपाल में सिद्धि) रूप हेतु से [**विविधार्थ-सिद्धिः**] विविधार्थ (अनेक अर्थों) की सिद्धि के रूप में स्वभाव प्रथित (प्रसिद्ध) है तो (हे वीर भगवन्!) [**ते**] आपके [**असूयतां**] विद्वेषियों के लिये [**किं तत् वादान्तरं**] क्या यह वादान्तर नहीं होगा?

यदि यह कहा जाये कि आत्मादि नित्य पदार्थों में स्वभाव से ही विकार सिद्ध है अतः कारक-व्यापार, कार्य और कार्ययुक्ति सब ठीक घटित होते हैं और इस तरह सकल दोष असम्भव ठहरते हैं, कोई भी दोषापत्ति नहीं बन सकती; तब यह प्रश्न पैदा होता है कि स्वभाव बिना किसी हेतु के ही प्रथित (प्रसिद्ध) है अथवा आबाल-सिद्धि (बालगोपाल में सिद्धि) से विविधार्थ सिद्धि के रूप में प्रथित है। उत्तर में यदि यह कहा जाये कि नित्य पदार्थों में विकारी होने का स्वभाव बिना किसी हेतु के ही प्रथित है तो ऐसी दशा में क्रिया और कारक का विभ्रम उपस्थित होता है। स्वभाव से ही पदार्थों का ज्ञान तथा आविर्भाव होने से ज्ञप्ति (जानन क्रिया) तथा उत्पत्तिरूप जो प्रतीयमान क्रिया है, उसके भ्रान्तिरूप होने का प्रसंग आता है, अन्यथा स्वभाव के निर्हेतुकत्व की सिद्धि नहीं बनती; और क्रिया के विभ्रम से प्रतिभासमान कारक-समूह भी विभ्रमरूप हो जाता है, क्योंकि क्रियाविशिष्ट द्रव्य का नाम 'कारक' प्रसिद्ध है, क्रिया से कारक की उत्पत्ति नहीं। स्वभाववादी के द्वारा क्रिया-कारक का विभ्रम मान्य नहीं किया जा सकता, क्योंकि विभ्रम की मान्यता पर

वादान्तर का प्रसंग आता है; सर्वथा स्वभाववाद स्थिर न रहकर एक नया विभ्रमवाद और खड़ा हो जाता है। परन्तु, हे वीर जिन! क्या आपके स्याद्वाद शासन से द्वेष रखने वालों के यहाँ यह वादान्तर बनता है? नहीं बनता; क्योंकि 'सब कुछ विभ्रम है' ऐसा एकान्तरूप वादान्तर स्वीकार करने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस विभ्रम में अविभ्रम-अभ्रान्ति है या वह भी विभ्रम-भ्रान्तिरूप है। यदि अविभ्रम है तो विभ्रम एकान्त न रहा; अविभ्रम भी कोई पदार्थ ठहरा। और यदि विभ्रम में भी विभ्रम है तो सर्वत्र अभ्रान्ति की सिद्धि हुई क्योंकि विभ्रम में विभ्रम होने से वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा होती है; और ऐसी हालत में स्वभाव के निर्हेतुकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाये कि बिना किसी हेतु के नहीं किन्तु आबाल-सिद्धि रूप हेतु से विविधार्थ अर्थात् पूर्व कारिका में वर्णित सर्वथा नित्य पदार्थों में विक्रिया तथा कारक-व्यापारादि की सिद्धि के रूप में स्वभाव प्रथित (प्रसिद्ध) है, अर्थात् क्रिया-कारकादिरूप जो विविध अर्थ हैं उन्हें बालक तक भी स्वीकार करते हैं और उनका इस प्रकार से सिद्ध होना ही स्वभाव है, तो यह वादान्तर हुआ। परन्तु, हे वीर भगवन्! यह वादान्तर भी आपके विद्वेषियों के यहाँ बनता कहाँ है? क्योंकि वह आबाल-सिद्धि से होने वाली निर्णीति नित्यादि सर्वथा एकान्तवाद का आश्रय लेने पर नहीं बन सकती, जिससे सब पदार्थों, सब कार्यों और सब कारणों की सिद्धि होती। कारण यह कि वह निर्णीति अनित्य होती है और बिना विक्रिया के बनती नहीं, इसलिए सर्वथा नित्य एकान्त के साथ घटित नहीं हो सकती। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से किसी पदार्थ की सिद्धि के न हो सकने पर दूसरों के पूछने अथवा दूषणार्थ जिज्ञासा करने पर स्वभाववाद का अवलम्बन ले लेना युक्त नहीं है, क्योंकि इससे अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति दोष) आता है; प्रकृत से अन्यत्र विपक्ष में भी यह घटित होता है। सर्वथा अनित्य अथवा क्षणिक एकान्त को सिद्ध करने के लिए भी स्वभाव-एकान्त का अवलम्बन लिया जा सकता है। और यदि यह कहा जाये कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सामर्थ्य से विविधार्थ की सिद्धिरूप स्वभाव है तो फिर स्वभाव-एकान्तवाद कैसे सिद्ध हो सकता है? क्योंकि स्वभाव की तो स्वभाव से ही व्यवस्थिति है, उसको प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बल से व्यवस्थापित करने पर स्वभाव-एकान्त स्थिर नहीं रहता। इस तरह, हे वीर जिन! आपके अनेकान्त-शासन से विरोध रखने वाले सर्वथा एकान्तवादियों के यहाँ कोई भी वादान्तर (एक के साथ दूसरा वाद) बन नहीं सकता; वादान्तर तो सम्यक्-एकान्त के रूप में आपके सपक्षियों अथवा अनेकान्तवादियों के यहाँ ही घटित होता है।

अवक्तव्य एकान्त में भी आत्मतत्त्व एवं बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था घटित नहीं होती है-

येषामवक्तव्यमिहाऽऽत्मतत्त्वं
देहादनन्यत्वपृथक्त्वक्लृप्तेः ।
तेषां ज्ञतत्त्वेऽनवधार्यतत्त्वे
का बन्धमोक्षस्थितिरप्रमेये ॥१०॥

अन्वयार्थ - [**इह**] इस लोक में [**आत्मतत्त्वं**] आत्मतत्त्व (नित्य आत्मा) की [**देहात्**] शरीर से [**अनन्यत्व-पृथक्त्वक्लृप्तेः**] अभिन्नत्व और भिन्नत्व की इस कल्पना (अभिन्नत्व और भिन्नत्व दोनों में से किसी एक के भी निर्दोष सिद्ध न हो सकने) के कारण [**येषाम्**] जिन्होंने (आत्मतत्त्व को) [**अवक्तव्यम्**] अवक्तव्य (वचन के अगोचर अथवा अनिर्वचनीय) माना है, [**तेषाम्**] उनके मत में [**ज्ञतत्त्वे**] आत्मतत्त्व के [**अनवधार्य-तत्त्वे**] अनवधार्य होने पर (स्वरूप अवधारित नहीं होने पर) [**अप्रमेये**] तथा अप्रमेय (प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होना) होने पर [**का बंध-मोक्ष-स्थितिः**] बन्ध और मोक्ष की कौन सी स्थिति बन सकती है?

संसार अवस्था में अनादिकाल से आत्मा और शरीर इन दोनों का मेल चला आ रहा है, इसके कारण जीव और पुद्गल के भेद से भ्रम पैदा होता है। शरीर से आत्मा को सर्वथा अभिन्न मानने पर संसार के अभाव का प्रसंग आता है, क्योंकि देह-रूपादिक की तरह देहात्मक आत्मा का भवान्तर-गमन (अन्य भव में गमन) तब बन नहीं सकता और इसी भव में उसका विनाश ठहरता है। विनाश का नित्यत्व के साथ विरोध होने से आत्मा नित्य नहीं रहता और चार्वाक[1] मत का प्रसंग आता है, जो आत्मतत्त्व को भिन्न-तत्त्व न मानकर

---

1. चार्वाक (भूतचैतन्यवाद) आत्मा को नहीं मानते। इनके मत में चार ही तत्त्व माने गये हैं - पृथिवी, जल, अग्नि और वायु; इन चारों को ही भूतचतुष्टय कहते हैं। इन भूतों से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। चार्वाक मत के अनुसार परलोक के लिए व्रत, नियम आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करना व्यर्थ है। इनके अनुसार वर्तमान सामग्री को छोड़कर भविष्यत् की आशा से उसके लिए प्रयत्न करना मूर्खता है। (**'प्रमेयकमल मार्तण्ड'**, भाग-1, पृ. 296-297)

पृथिवी आदि भूतचतुष्टय का ही विकार अथवा कार्य मानता है। यह प्रमाण–विरुद्ध है और आत्मतत्त्ववादियों को इष्ट नहीं है। जिसने शुभ या अशुभ कर्म किया वह तो नष्ट हो गया, अब उसका फल कौन भोगेगा?

आत्मा और शरीर इन दोनों को सर्वथा भिन्न मानने पर देह के उपकार–अपकार से आत्मा के सुख–दु:ख नहीं बनते, सुख–दु:ख का अभाव होने पर राग–द्वेष नहीं बन सकते और राग–द्वेष के अभाव में धर्म–अधर्म संभव नहीं हो सकते।

इस तरह दोनों ही कल्पनाएँ (अभिन्नत्व और भिन्नत्व) सदोष ठहरती हैं। इस कारण जिन्होंने आत्मतत्त्व को अवक्तव्य (वचन के अगोचर अथवा अनिर्वचनीय) माना है, उनके मत में भी आत्मतत्त्व के अनवधार्य होने पर (आत्मतत्त्व के स्वरूप की अवधारणा नहीं होने पर) तथा प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होने पर बन्ध और मोक्ष की कौन सी स्थिति बन सकती है? 'बन्ध्या–पुत्र' की तरह कोई भी स्थिति नहीं बन सकती – न बन्ध व्यवस्थित होता है और न मोक्ष; और इसलिये बन्ध और मोक्ष की सारी चर्चा व्यर्थ ठहरती है।

किसी भी एकान्तवाद में पुण्य–पाप, जन्म–मरण, बन्ध–मोक्ष आदि नहीं बनते।

द्वितीय परिच्छेद (११-१७)

सौत्रान्तिक (बाह्यार्थनुमेयवाद) बौद्ध-दर्शन की मान्यता में दोष एवं उनका निराकरण

क्षणिकैकान्त पक्ष में दोष-

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाऽप्यदृष्टो
योऽयं प्रवादः क्षणिकाऽऽत्मवादः ।
'न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये'
सन्तानभिन्ने न हि वासनाऽस्ति ॥११॥

अन्वयार्थ - 'प्रथम क्षण में [**ध्वस्तम्**] नष्ट हुआ चित्त-आत्मा [**अन्यत्र**] अन्यत्र [**द्वितीये भवे**] दूसरे भव (क्षण) में [**न**] विद्यमान नहीं रहता', [**योऽयं**] यह जो [**क्षणिकाऽऽत्मवादः**] क्षणिकात्मवाद है, वह [**प्रवादः**] प्रवाद (प्रलाप-मात्र) है, क्योंकि [**अत्र**] यहाँ [**न दृष्टः**] न दृष्ट-प्रत्यक्ष [**न च अपि अदृष्टः**] और न अदृष्ट-अनुमान [**हेतुः**] हेतु बनता है। [**सन्तानभिन्ने**] सन्तान-भिन्न (चित्त) में [**न हि वासना अस्ति**] वासना का अस्तित्व नहीं बन सकता।

'प्रथम क्षण में नष्ट हुआ चित्त-आत्मा दूसरे क्षण में विद्यमान नहीं रहता', यह जो बौद्धों का क्षणिकात्मवाद है वह प्रमाणशून्य होने से केवल प्रलाप-मात्र है, क्योंकि इसका अनुमान कराने वाला न कोई दृष्ट-प्रत्यक्ष हेतु और न कोई अदृष्ट-अनुमान हेतु बनता है।

बौद्ध लोग पूर्व ज्ञानक्षण से उत्तर ज्ञानक्षण में उत्पन्न की हुई शक्ति को 'वासना' कहते हैं; अर्थात् पदार्थों के प्रत्येक क्षण में नष्ट होते हुए भी परस्पर भिन्न क्षणों को जोड़ने वाली शक्ति को वासना अथवा संस्कार कहते हैं। दीपक की लौ के समान नये-नये उत्पन्न होने वाले अपर-अपर सदृश पूर्व और उत्तर क्षणों की परम्परा को क्षणसंतति कहते हैं। जिस

प्रकार दीपक की लौ के प्रत्येक क्षण में बदलते रहने पर भी लौ के पूर्व और उत्तर क्षणों में परस्पर सदृश ज्ञान होने के कारण, यह वही लौ है, ऐसा ज्ञान होता है; उसी तरह पदार्थों के प्रत्येक क्षण में बदलते रहने पर भी पदार्थों के पूर्व और उत्तर क्षणों में सदृश ज्ञान होने के कारण यह वही पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है। इसे ही बौद्ध मत में क्षणसंतति कहा है।

यदि वस्तु सर्वथा क्षणिक है, जैसा बौद्ध लोग मानते हैं, तो हमें उस वस्तु में 'यह वही है जिसे हमने पहले देखा था' ऐसा प्रत्यभिज्ञान क्यों होता है? वस्तु के नष्ट हो जाने पर तो 'यह वही है' ऐसा बोध नहीं होना चाहिये। तथा यदि असत् की भी उत्पत्ति होती है तो वृक्ष के बिना भी फल-फूल पैदा हो जाने चाहिये। बिना मिट्टी भी घड़ा बन जाना चाहिये। बौद्ध लोग सन्तान को वस्तु मानते हैं। उनके मतानुसार सन्तान का एक क्षण दूसरे क्षण से सम्बद्ध होता है, मरण के समय रहने वाला ज्ञानक्षण भी दूसरे विचार से सम्बद्ध होता है, इसीलिये संसार की परम्परा सिद्ध होती है। परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि सन्तानक्षणों का परस्पर सम्बन्ध करने वाला कोई पदार्थ नहीं है, जिससे दोनों क्षणों का परस्पर सम्बन्ध हो सके। बौद्धों के मत में जो स्मृतिज्ञान है वह भी नहीं बन सकता, क्योंकि एक बुद्धि से अनुभव किये हुए पदार्थ का दूसरी बुद्धि से स्मरण नहीं हो सकता।

(नित्यत्वैकान्त में दोष को जानकर-) यदि क्षणिकैकान्त (बौद्धों द्वारा प्रतिपादित अनित्यत्व-रूप एकान्त) का पक्ष लिया जाए तो उसमें भी प्रेत्यभावादिक संभव नहीं हैं। प्रत्यभिज्ञानादि जैसे ज्ञानों का अभाव होने से कार्य का आरम्भ संभव नहीं है और जब कार्य का आरम्भ ही नहीं तब उसका फल कैसे संभव हो सकता है? (देखें, **'आप्तमीमांसा'**, कारिका 41)

(बौद्धों द्वारा यदि कहा जाए-) पृथक्-पृथक् क्षणों में अनन्य शब्द (सन्तान) का जो व्यवहार है वह संवृति (काल्पनिक, औपचारिक) है तो सर्वथा संवृति होने से वह शब्द मिथ्या क्यों नहीं है? यदि शब्द (सन्तान) को मुख्य अर्थ के रूप में माना जाए तो मुख्य अर्थ सर्वथा संवृति-रूप नहीं होता है और मुख्य अर्थ के बिना संवृति नहीं होती है। (देखें, **'आप्तमीमांसा'**, कारिका 44)

जैसे आत्मा को सर्वथा नित्य मानने में न बन्ध है, न मोक्ष है, न कार्य है, न कारण है, ऐसे ही आत्मा को सर्वथा क्षणिक मानने पर भी कोई व्यवस्था नहीं बनती। जब आत्मा सर्वथा क्षणिक है तो फिर बन्ध किसका और मोक्ष किसका?

निरन्वय विनाश मानने में दोष-

तथा न तत्कारणकार्यभावो
निरन्वयाः केन समानरूपाः ।
असत् खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं
दृष्टं न सिद्ध्यत्युभयोरसिद्धम् ॥१२॥

अन्वयार्थ - (जिस प्रकार सन्तानभिन्न चित्त में वासना नहीं बन सकती) **[तथा]** उसी प्रकार **[तत्कारणकार्यभावः]** (क्षणिकात्मवाद अर्थात् सन्तानभिन्न चित्तों में) कारण-कार्य भाव भी **[न]** नहीं बनता है। **[निरन्वयाः]** जो चित्तक्षण[1] विनश्वर-निरन्वय (सन्तान-परम्परा से रहित) माने गये हैं, **[केन समानरूपाः]** उन्हें किसके साथ समानरूप कहा जाये? (जो कार्यचित्त असत् है अर्थात् उत्पाद के पूर्व जिसका सर्वथा अभाव है) **[असत् खपुष्पम्]** असत् को आकाश-पुष्प के समान **[न हि हेत्वपेक्षम्]** हेतु की अपेक्षा से न ही **[दृष्टम् न सिद्ध्यति]** देखा जाता है और न वह सिद्ध होता है। (क्योंकि) **[उभयोः असिद्धम्]** (कोई भी असत् पदार्थ हेत्वपेक्ष के रूप में) वादी-प्रतिवादी दोनों के द्वारा असिद्ध (अमान्य) है।

सन्तानभिन्न चित्तों में भी कारण-कार्य भाव मानने पर देवदत्त और जिनदत्त के चित्तों में भी कारण-कार्य भाव के प्रवर्तित होने का प्रसंग आयेगा, जो किसी के लिए भी इष्ट नहीं है।

यदि कहा जाये कि एक सन्तानवर्ती समानरूप चित्तक्षणों के ही कारण-कार्य भाव होता है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो चित्तक्षण विनश्वर-निरन्वय (सन्तान-परम्परा से रहित) माने गये हैं, उन्हें किसके साथ समानरूप कहा जाये? किसी भी स्वभाव के साथ वे समानरूप नहीं हैं और इसलिए उनमें कारण-कार्य भाव घटित नहीं हो सकता। सत्स्वभाव (सत्ता-स्वभाव) और चित्स्वभाव (चैतन्य-स्वभाव) के साथ समानरूप मानने

1. उनके द्वारा मान्य क्षणिक जीव को ही क्षणिकवादी चित्तक्षण कहते हैं, यानि जो पूर्व-चित्त है वह उत्तर-चित्त का उपादान कारण है।

पर भिन्न सन्तानवर्ती देवदत्त और जिनदत्त के चित्तक्षण भी सत्स्वभाव और चित्स्वभाव की दृष्टि से परस्पर में कोई विशेष न रखने के कारण समानरूप ठहरेंगे और उनमें कारण–कार्य भाव की उक्त आपत्ति पहले जैसी बनी रहेगी।[2]

यदि यह कहा जाये कि जो चित्त उपादान–उपादेय भाव को लिये हुए हैं – पूर्व–पूर्व का चित्त जिनमें उत्तरोत्तरवर्ती चित्त का उपादान कारण है – वे ही एक–सन्तानवर्ति–चित्त परस्पर में समानरूप हैं और उन्हीं के कारण–कार्य भाव घटित होता है, सन्तानान्तरवर्ति–चित्तों के नहीं; तो इसमें यह विकल्प उत्पन्न होता है कि उत्तरवर्ती–चित्त उत्पन्न और सत् होकर अपने हेतु की अपेक्षा करता है या अनुत्पन्न और असत् होकर। प्रथम पक्ष तो बनता नहीं, क्योंकि पहले तो यह ही युक्ति–विरुद्ध है कि जो उत्पन्न हो गया, सत् हो गया, वह कारण की अपेक्षा क्यों रखेगा। दूसरी बात यह कि सत् के सर्वथा अवक्तव्यपना मानने से उसे हेत्वपेक्षरूप में नहीं कहा जा सकता। दूसरा पक्ष मानने पर, जो कार्यचित्त असत् है, अर्थात् उत्पत्ति के पूर्व में जिसका सर्वथा अभाव है, उसको आकाश–पुष्प के समान हेतु की अपेक्षा से न ही देखा जाता है और न ही वह सिद्ध होता है। असत् कभी कारण की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि वह असत् है। असत् पदार्थ हेत्वपेक्ष के रूप में वादी–प्रतिवादी दोनों के द्वारा असिद्ध (अमान्य) है।

एकत्व के अभाव में (यदि एकत्व का सर्वथा लोप किया जाए) जो सन्तान, समुदाय, साधर्म्य और प्रेत्यभाव निरंकुश हैं (निर्बाध–रूप से माने जाते हैं) उन सब का भी अभाव हो जायेगा। (देखें, **'आप्तमीमांसा'**, कारिका 29)

---

2. क्रम से होने वाले पदार्थों में ही कारण–कार्य भाव हो सकता है, परन्तु बौद्ध मत में कोई भी वस्तु क्षणमात्र से अधिक नहीं ठहरती। अतएव ज्ञान की उत्पत्ति के क्षण में, ज्ञान के कारण पदार्थ का नाश हो जाने से, पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होने के पहले ही पदार्थ नष्ट हो जाता है। पदार्थ को ज्ञान का सहभावी मानने से भी पदार्थ ज्ञान का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि एक साथ उत्पन्न होने वाली दो वस्तुओं में कारण–कार्य सम्बन्ध नहीं बन सकता। यदि पदार्थ को ज्ञान में कारण माना जाये तो इन्द्रियों को भी ज्ञान की उत्पत्ति में कारण मानना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियाँ भी ज्ञान को पैदा करती हैं। ज्ञान की उत्पत्ति पदार्थ के ऊपर अवलम्बित नहीं है, कारण कि मृगतृष्णा में जलरूप पदार्थ के अभाव होने पर भी जल का ज्ञान होता है। अतएव जब तक पदार्थ और ज्ञान में 'जहाँ पदार्थ न हो वहाँ ज्ञान न हो' इस प्रकार का व्यतिरेक सम्बन्ध सिद्ध न हो, तब तक पदार्थ को ज्ञान का हेतु नहीं कह सकते। (देखें, **'णयचक्को'**, पृ. 166)

क्षणिकैकान्तवाद में हेतु घटित नहीं होता-

नैवाऽस्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे
न सन्नसन्वा विभवादकस्मात् ।
नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा
सन्तानभिन्नक्षणयोरभावात् ॥१३॥

अन्वयार्थ - (परमार्थ से तो) [**क्षणिकात्मवादे**] क्षणिकात्मवाद में [**हेतुः नैव अस्ति**] हेतु बनता ही नहीं है। (क्योंकि हेतु को यदि सत्रूप माना जाये तो) [**विभवात्**] इससे विभव का प्रसंग आने से और (यदि असत्रूप माना जाये तो) [**अकस्मात्**] अकस्मात् (बिना किसी कारण के ही) कार्योत्पत्ति का प्रसंग आने से, [**न सत्**] न सत् [**वा**] और [**न असत्**] न असत् हेतु बनता है। तथा [**सन्तान-भिन्न-क्षणयोः**] सन्तान के भिन्न क्षणों में [**नाशोदयैकक्षणता च अभावात् दृष्टा**] नाश और उदय की एक-क्षणता का अभाव देखा जाता है।

(परमार्थ से) क्षणिकात्मवाद में हेतु बनता ही नहीं है। हेतु को यदि सत्रूप माना जाये अर्थात् सत्रूप ही पूर्वचित्तक्षण उत्तरचित्तक्षण का हेतु माना जाये तो इससे विभव का प्रसंग आता है। अर्थात् एकक्षणवर्ती चित्त में चित्तान्तर की उत्पत्ति होने पर उस चित्तान्तर के कार्य की भी उसी क्षण उत्पत्ति होगी। इतना ही क्यों, जितने उत्तरोत्तर चित्त उत्पन्न हुए हैं वे सब भी बन गये। इस तरह चैत्तक्षणों के एकक्षणवर्ती हो जाने पर सकल जगत्-व्यापी चित्तप्रकारों की युगपत् सिद्धि ठहरेगी। सब चित्तप्रकारों (जीवों) की व्यापकता एक साथ ठहरेगी और ऐसा होने से जिसे क्षणिक कहा जाता है वह विभुत्वरूप (सर्वव्यापक) हो जाता है, यह बड़ा दोष है। साथ ही एकक्षणवर्ती सत्चित्त के पूर्वकाल और उत्तरकाल में जगत् चित्तशून्य ठहरता है और सन्तान-निवार्णरूप जो विभवमोक्ष है वह सबके बिना उपाय (अनुपाय) अथवा प्रयत्न के ही सिद्ध होता है। इसलिये हेतु को सत्रूप मानना दोषपूर्ण है।

इस दोष से बचने के लिये हेतु को यदि असत्रूप ही माना जाये तो अकस्मात् (बिना

किसी कारण के ही) कार्योत्पत्ति का प्रसंग आता है; उत्तरचित्त का बिना-कारण ही बन जाने का प्रसंग आता है और इसलिए असत्‌रूप हेतु भी नहीं बनता।

यदि आकस्मिक कार्योत्पत्ति के दोष से बचने के लिये कारण के नाश के अनन्तर दूसरे क्षण में कार्य का उदय (उत्पाद) न मानकर नाश और उदय को एकक्षणवर्ती माना जाये अर्थात् यह कहा जाये कि जिसका नाश ही कार्य का उदय है, वह उस कार्य का हेतु है, तो यह भी नहीं बनता, क्योंकि सन्तान के भिन्न क्षणों में नाश और उदय की एक-क्षणता का अभाव होने से नाशोदयैकक्षणतारूप युक्ति सदोष है। जैसे सुषुप्त सन्तान में जागृत चित्त का जो नाश-क्षण (विनाशकाल) है, वही प्रबुद्ध चित्त का उदय-क्षण नहीं है, दोनों में अनेकक्षणरूप मुहूर्तादि काल का व्यवधान है और इसलिये (सुषुप्त अवस्था के पहले के) जागृत चित्त को (सुषुप्त अवस्था के बाद के) प्रबुद्ध चित्त का हेतु नहीं कहा जा सकता।[1] अतः उक्त सदोष युक्ति के आधार पर आकस्मिक कार्योत्पत्ति के दोष से नहीं बचा जा सकता।

---

1. सुषुप्त अवस्था के पहले के जागृत चित्त में और सुषुप्त अवस्था के बाद के प्रबुद्ध चित्त में कारण-कार्य भाव बतलाना ठीक नहीं है; क्योंकि कारण-कार्य भाव तभी संभव है जब कारण के सद्‌भाव में कार्य उत्पन्न हो। जब सोने से पूर्व समय का ज्ञान नष्ट हो ही गया तब वह प्रबुद्ध चित्त में ज्ञान का कारण कैसे हो सकता है? जहाँ काल का अन्तराल पाया जाता है वहाँ कारण-कार्य भाव हो ही नहीं सकता। बौद्धों का, काल के व्यवधान होने पर भी कारण-कार्य भाव मानकर पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का स्वभावादि हेतु में अन्तर्भाव मानना उचित नहीं है। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, पृ. 111)

पदार्थों के आकस्मिक विनाश मानने में दोष-

कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोगौ
स्यातामसञ्चेतितकर्म च स्यात् ।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे
मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥१४॥

अन्वयार्थ - **[अर्थे प्रलयस्वभावे]** यदि पदार्थ को प्रलय-स्वभावरूप **[आकस्मिके]** आकस्मिक माना जाये तो **[कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोगौ]** इससे कृत-कर्म के भोग के प्रणाश (विनाश) का और अकृत-कर्म (नहीं किए कर्म) के फल को भोगने का **[स्याताम्]** प्रसंग आयेगा। **[असञ्चेतितकर्म च]** साथ ही, कर्म भी असंचेतित-अविचारित **[स्यात्]** ठहरेगा। (इसी तरह पदार्थ के प्रलय-स्वभावरूप क्षणिक होने पर) **[मार्गः न युक्तः]** कोई मार्ग भी युक्त नहीं रहेगा। **[वधकः च न स्यात्]** और कोई किसी का वध करने वाला भी नहीं रहता।

यदि पदार्थ को प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक माना जाये अर्थात् यह कहा जाये कि जिस प्रकार बौद्ध मान्यतानुसार बिना किसी दूसरे कारण के ही प्रलय (विनाश) आकस्मिक होता है, पदार्थ प्रलय-स्वभावरूप हैं, उसी प्रकार कार्य का उत्पाद भी बिना कारण के ही आकस्मिक होता है, तो इससे कृत-कर्म के भोग का प्रणाश (विनाश) ठहरेगा। पूर्व चित्त ने जो शुभ या अशुभ कर्म किया उसके फल का भोगी वह न रहेगा और इससे किये हुए कर्म को करने वाले के लिये कर्म निष्फल कहना होगा और अकृत-कर्म (नहीं किए कर्म) के फल को भोगने का प्रसंग आयेगा। जिस उत्तरभावी चित्त ने कर्म किया ही नहीं उसे अपने पूर्वचित्त द्वारा किये हुए कर्म का फल भोगना पड़ेगा, क्योंकि क्षणिकात्मवाद में कोई भी कर्म का कर्ता चित्त उत्तरक्षण में अवस्थित नहीं रहता किन्तु फल की परम्परा चलती है। साथ ही, कर्म भी असंचेतित-अविचारित ठहरेगा, क्योंकि जिस चित्त ने कर्म करने का विचार किया उसका उसी क्षण निरन्वय (संबंध-रहित) विनाश हो जाने से और विचार न करने वाले उत्तरवर्ती चित्त के द्वारा उसके सम्पन्न होने से उसे उत्तरवर्ती चित्त का

अविचारित कार्य ही कहना होगा।

इसी तरह पदार्थ के प्रलय-स्वभावरूप क्षणिक होने पर कोई मार्ग भी युक्त नहीं रहेगा। सकल आस्रव-निरोधरूप मोक्ष का अथवा चित्तसन्तत्ति के नाशरूप शान्त-निर्वाण का मार्ग (हेतु) जो नैरात्म्य भावनारूप बतलाया जाता है, वह भी नहीं बन सकेगा, क्योंकि नाश के निर्हेतुक होने से सास्रव-चित्तसन्तत्ति का नाश करने के लिये किसी नाशक का होना विरुद्ध पड़ता है; स्वभाव से ही नाश मानने पर कोई नाशक नहीं बनता और कोई किसी का वध करने वाला (वधक) भी नहीं रहता, क्योंकि वह भी प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक है। जिस चित्त ने वध (हिंसा) का विचार किया वह उसी क्षण नष्ट हो जाता है और जिसका वध हुआ वह उसके प्रलय-स्वभाव से आकस्मिक हुआ; उसके लिये वध का विचार न रखने वाले किसी भी दूसरे चित्त को अपराधी नहीं ठहराया जा सकता।

संवृति (व्यवहार/उपचार) से भी क्षणिक पक्ष में बन्ध और मोक्ष नहीं बनते-

न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ
न संवृतिः साऽपि मृषास्वभावा ।
मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टो
विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥१५॥

अन्वयार्थ - (पदार्थों के प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक होने पर-) **[क्षणिकैकसंस्थौ]** क्षणिक एक-चित्त में संस्थित **[बन्धमोक्षौ न]** बन्ध और मोक्ष भी नहीं बनते; **[मृषास्वभावा]** मृषा-स्वभावा (मिथ्या-स्वभावी) **[न संवृतिः साऽपि]** संवृति[1] (उपचार) भी क्षणिक एक-चित्त में बंध-मोक्ष की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं है। और **[गौण विधिः]** गौण-विधि **[मुख्यादृते]** मुख्य के बिना **[न दृष्टः]** देखी नहीं जाती है। **[तव]** आपकी (स्याद्वादरूपिणी अनेकान्त) **[दृष्टितः]** दृष्टि से **[अन्या]** भिन्न जो दूसरी दृष्टि है **[विभ्रान्तदृष्टिः]** वह विभ्रान्त दृष्टि है।

पदार्थ के प्रलय-स्वभावरूप आकस्मिक होने पर, क्षणिक एक-चित्त में संस्थित बन्ध और मोक्ष भी नहीं बनते हैं। जिस चित्त का बन्ध है उसका निरन्वय-विनाश हो जाने से उत्तर-चित्त - जो अबद्ध है - उसी के मोक्ष का प्रसंग आएगा, और एक-चित्त संस्थित बन्ध और मोक्ष उसे कहते हैं कि जिस चित्त का बन्ध हो उसी का मोक्ष होवे।

यदि यह कहा जाये कि पूर्वोत्तर चित्तों में एकत्व के आरोपण करने वाली 'संवृति' से क्षणिक एक-चित्त संस्थित बन्ध और मोक्ष बनते हैं, तो प्रश्न पैदा होता है कि वह संवृति मृषा-स्वभावा है या गौण-विधिरूपा है। मृषा-स्वभावा संवृति क्षणिक एक-चित्त में बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं है। उससे बन्ध और मोक्ष भी मिथ्या ठहरते हैं।

---

1. बौद्धों द्वारा भिन्न-भिन्न क्षणों में उत्पन्न होने वाले चित्तों में एकत्व के आरोपण करने को 'संवृति' संज्ञा दी गई है। क्षणिक चित्तों में संवृति (एकत्व) के बोध से बन्ध और मोक्ष माने गये हैं।

गौण-विधि मुख्य के बिना देखी नहीं जाती है। जिस प्रकार किसी पुरुष को मुख्य सिंह के अभाव में 'पुरुषसिंह' कहना नहीं बनता, उसी प्रकार किसी चित्त में मुख्यरूप से बन्ध-मोक्ष के संस्थित हुए बिना बन्ध-मोक्ष की गौण-विधि नहीं बन सकती। और इस कारण से मुख्य-विधि के अभाव में गौण-विधिरूप संवृति भी किसी एक क्षणिक चित्त में बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था करने में समर्थ नहीं है।

हे वीर जिन! आपकी स्याद्वादरूपिणी अनेकान्त दृष्टि से भिन्न जो क्षणिकात्मवादियों की सर्वथा एकान्त दृष्टि है वह विभ्रान्त दृष्टि है। वह सब ओर से दोषरूप होने के कारण वस्तुतत्त्व का यथार्थरूप से प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं है।

क्षणिकैकान्त से लोक-व्यवहार का लोप होता है-

प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वा-
न्न मातृघाती स्वपतिः स्वजाया ।
दत्तग्रहो नाऽधिगतस्मृतिर्न
न क्त्वार्थसत्यं न कुलं न जातिः ॥१६॥

अन्वयार्थ - [**प्रतिक्षणं भङ्गिषु**] क्षण-क्षण में पदार्थों को भङ्गवान् (निरन्वय-विनाशवान) मानने पर, [**तत्पृथक्त्वात्**] उनके सर्वथा भिन्न होने के कारण, [**न मातृघाती**] कोई मातृघाती नहीं बनता है, [**न स्वपतिः**] न कोई किसी का (कुलस्त्री का) स्वपति बनता है, [**न स्वजाया**] और न कोई किसी की स्वपत्नि ठहरती है। [**दत्तग्रहो न**] दिये हुए धनादिक का पुनः ग्रहण नहीं बनता, [**अधिगतस्मृतिः न**] अधिगत (ग्रहण) किये हुए अर्थ की स्मृति भी नहीं बनती। [**क्त्वार्थसत्यं न**] 'क्त्वा' प्रत्यय का जो अर्थ-सत्य है वह भी नहीं बनता। (इसी प्रकार) [**कुलम् न**] न कोई कुल बनता है, [**जातिः न**] और न कोई जाति ही बनती है।

क्षण-क्षण में पदार्थों को भङ्गवान् (निरन्वय-विनाशवान) मानने पर उनके पृथक्पन के कारण कोई मातृघाती नहीं बनता है, क्योंकि तब पुत्रोत्पत्ति के क्षण में ही माता का स्वयं नाश हो जाता है, उत्तरक्षण में पुत्र का भी प्रलय हो जाता है और अपुत्र का ही उत्पाद होता है। न कोई किसी का स्वपति बनता है, क्योंकि उसके विवाहित पति का उसी क्षण विनाश हो जाता है, अन्य अविवाहित का ही उत्पाद होता है और न कोई किसी की स्वपत्नि (विवाहिता स्त्री) ठहरती है, क्योंकि उसकी विवाहिता स्त्री का उसी क्षण विनाश हो जाता है, अन्य अविवाहिता का ही उत्पाद होता है।

दिये हुए धनादिक का ऋणी के पास से पुनः ग्रहण (वापिस लेना) नहीं बनता, क्योंकि जो ऋण देता है उसका उसी क्षण निरन्वय-विनाश हो जाता है। उत्तर-क्षण में लेने वाले का भी विनाश हो जाता है तथा अन्य का ही उत्पाद होता है। कोई स्थिर नहीं रहता, सब उसी क्षण ध्वस्त हो जाते हैं।

अधिगत (ग्रहण) किये हुए शास्त्रादिक के अर्थ की स्मृति भी नहीं बनती। इससे शास्त्राभ्यास निष्फल ठहरता है।

'क्त्वा' प्रत्यय का जो अर्थ–सत्य है; प्रमाणरूप से स्वीकृत है, वह भी नहीं बनता। पूर्व और उत्तर क्रिया का एक ही कर्ता होने पर पूर्वकाल की क्रिया को 'क्त्वा' (करके) प्रत्यय के द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे, 'रामो भुक्त्वा गतः' – राम खा करके गया। यहाँ खाना और जाना इन दोनों क्रियाओं का कर्ता एक राम ही है; तभी उसकी इन क्रियाओं को 'करके' अर्थात् 'क्त्वा' शब्द के द्वारा विभक्त किया गया है। राम के क्षणभंगुर होने पर वह दोनों क्रियाओं का कर्ता नहीं बनता और फिर इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग नहीं बनता।

इसी प्रकार न कोई कुल बनता है और न कोई जाति ही बनती है। सूर्यवंशादिक जिस कुल में किसी क्षत्रिय का जन्म हुआ उस कुल का निरन्वय–विनाश हो जाने से उस जन्म में उसका कोई कुल न रहा, तब उसके लिये कुल का व्यवहार कैसे बन सकता है? क्षत्रियादि कोई जाति भी उस जाति के व्यक्तियों के बिना असम्भव है और अनेक व्यक्तियों में से अतद्व्यावृत्ति के ग्राहक एक चित्त का असम्भव होने से अन्याऽपोह[1] लक्षणा (अन्य से अभावरूप, अक्षत्रिय व्यावृत्तिरूप) जाति भी घटित नहीं हो सकती।

---

1. बौद्धों की एक मान्यता यह भी है कि शब्द का वाच्य अर्थ नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके अनुसार शब्द का वाच्य अपोह या अन्याऽपोह है। अन्याऽपोह का अर्थ है विवक्षित वस्तु से अन्य का अपोह (निषेध), अर्थात् अन्य के निषेध के शब्दार्थपने की कल्पना करना। जैसे 'गो' शब्द का वाच्य गो व्यक्ति न होकर अगो व्यावृत्ति है। 'गो' शब्द गाय में अगो की व्यावृत्ति करता है, अर्थात् यह हाथी नहीं है, घोड़ा नहीं है, मनुष्य नहीं है, इत्यादि प्रकार से अगो का निषेध करता है और अगो का निषेध करने पर जो बचता है उसका ज्ञान स्वतः शब्द के बिना ही हो जाता है। (यह भी देखें, **'जैन न्याय'**, पृ. 245–246)

क्षणिकैकान्त में निर्विकल्प-बुद्धिभूत स्वपक्ष ही बाधित होता है-

न शास्तृशिष्यादिविधिव्यवस्था
विकल्पबुद्धिर्वितथाऽखिला चेत् ।
अतत्त्वतत्त्वादिविकल्पमोहे
निमज्जतां वीतविकल्पधीः का? ॥१७॥

अन्वयार्थ - (चित्तों के प्रतिक्षण भंगुर निरन्वय-विनष्ट होने पर) [**शास्तृ-शिष्यादि-विधि-व्यवस्था**] शास्ता और शिष्यादि के स्वभाव-स्वरूप की भी कोई व्यवस्था [**न**] नहीं बनती। [**अखिला विकल्पबुद्धिः**] 'यह सब विकल्प-बुद्धि है और [**चेत् वितथा**] यह (विकल्प-बुद्धि) सारी मिथ्या होती है।' ऐसा कहने वालों (बोद्धों) के यहाँ, जो (स्वयं) [**अतत्त्वतत्त्वादि-विकल्प-मोहे**] अतत्त्व और तत्त्व आदि के विकल्पों के मोह में [**मिज्जातां**] डूबे हुए हैं, [**वीतविकल्पधीः**] निर्विकल्प-बुद्धि बनती [**का**] कौन-सी है?

क्षणिकवाद में चित्तों को प्रतिक्षण विनाशीक माना गया है। निरन्वय-विनष्ट होने पर शास्ता और शिष्य आदिक के स्वभाव-स्वरूप की कोई भी व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि तब तत्त्वदर्शन, परानुग्रह को लेकर तत्त्व-प्रतिपादन की इच्छा और तत्त्वप्रतिपादन, इन सब कालों में रहने वाले किसी एक शासक (उपदेष्टा) का अस्तित्व नहीं बन सकता और न ऐसे किसी शिष्य का ही अस्तित्व घटित हो सकता है जो कि शासन-श्रवण (उपदेश सुनने) की इच्छा और शासन के श्रवण, ग्रहण, धारण तथा अभ्यसनादि कालों में व्यापक हो। 'यह शास्ता है और मैं शिष्य हूँ', ऐसी प्रतिपत्ति भी किसी के नहीं बन सकती। इसी तरह ('आदि' शब्द से) स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, और पौत्र-पितामह आदि की भी कोई विधि-व्यवस्था नहीं बैठ सकती; सारा लोक-व्यवहार लुप्त हो जाता है अथवा मिथ्या ठहरता है।

यदि बौद्धों की ओर से यह कहा जाये कि बाह्य तथा आभ्यन्तररूप से प्रतिक्षण स्वलक्षणों (स्वपरमाणुओं) के विनश्वर होने पर परमार्थ से तो मातृघाती आदि तथा शास्ता-शिष्यादि

की विधि-व्यवस्था का व्यवहार सम्भव नहीं होता है तो उससे क्या? यह सब विकल्प-बुद्धि है जो अनादि वासना से समुद्भूत होकर मातृघाती आदि तथा शास्ता-शिष्यादिरूप विधि-व्यवस्था की हेतु बनी हुई है। विकल्प-बुद्धि मिथ्या होती है; क्षणिकपना ही वस्तु का स्वरूप है। ऐसा कहने वालों (बौद्धों) के यहाँ, जो स्वयं अतत्त्व और तत्त्व आदि के विकल्प-मोह में डूबे हुए हैं, निर्विकल्प-बुद्धि बनती कौन-सी है?

कोई भी सार्थिका और सच्ची निर्विकल्प-बुद्धि नहीं बनती, क्योंकि मातृघाती आदि सब विकल्प अतत्त्वरूप हैं और उनसे जो कुछ अन्य हैं वे तत्त्वरूप हैं, यह व्यवस्थिति भी विकल्पवासना के बल पर ही उत्पन्न होती है। इसी तरह 'संवृति' (व्यवहार) से 'अतत्त्व' की और परमार्थ से 'तत्त्व' की व्यवस्था भी विकल्प-शिल्पी के द्वारा ही घटित की जा सकती है, वस्तुबल से नहीं। इस प्रकार विकल्प-मोह बौद्धों के लिये महासमुद्र की तरह दुष्पार ठहरता है। इस पर यदि कहा जाये कि उनकी धर्म-देशना[1] ही दो सत्यों को लेकर हुई है – एक 'लोकसंवृति सत्य' और दूसरा 'परमार्थ सत्य' तो यह विभाग भी विकल्पमात्र होने से तात्त्विक नहीं बनता। सम्पूर्ण विकल्पों से रहित स्वलक्षणमात्र-विषया बुद्धि को जो तात्त्विकी कहा जाता है, वह भी सम्भव नहीं हो सकती; क्योंकि उसके इन्द्रियप्रत्यक्ष-लक्षणा, मानसप्रत्यक्ष-लक्षणा, स्वसंवेदनप्रत्यक्ष-लक्षणा और योगिप्रत्यक्ष-लक्षणा, ऐसे चार भेद माने गये हैं[2], जिनकी परमार्थ से कोई व्यवस्था नहीं बन सकती। प्रत्यक्ष-सामान्य और प्रत्यक्ष-विशेष का लक्षण भी विकल्पमात्र होने से अवास्तविक ठहरता है। और अवास्तविक लक्षण वस्तुभूत लक्ष्य को लक्षित करने के लिये समर्थ नहीं है; क्योंकि इससे 'अतिप्रसंग'[3] दोष आता है। तब किसको किससे लक्षित किया जायेगा? किसी को भी किसी से लक्षित नहीं किया जा सकता।

---

1. **"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्म-देशना ।**
 लोकसंवृतिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥" (- लंकावतार)
 लोकसंवृति सत्य और परमार्थ सत्य, इन दो का आश्रय लेकर बौद्धों की धर्म-देशना हुई है।

2. बौद्ध लोग यद्यपि ज्ञान को प्रमाण मानते हैं तथापि वे प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, इन्द्रियप्रत्यक्ष, मानसप्रत्यक्ष और योगिप्रत्यक्ष ऐसे चार भेद मान करके भी निर्विकल्प प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं अर्थात् उनके मतानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तु का निश्चयायक नहीं है। (देखें, **'प्रमेयरत्नमाला'**, पृ. 12)

3. अनभिप्रेत को साध्य माना जाये तो 'अतिप्रसंग' नाम का दोष आता है। (देखें, **'न्यायदीपिका'**, पृ. 94-95) 'यह साधन इसी साध्य का है', ऐसा प्रतिनियम न बन सकना।

तृतीय परिच्छेद (१८-२४)

योगाचार (विज्ञानवाद, संवेदनाद्वैत) बौद्ध-दर्शन की मान्यता में दोष एवं उनका निराकरण

व्यभिचार दोष का निराकरण विज्ञानाद्वैत में संभव नहीं-

अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चेद्-
विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धिः ।
अथाऽर्थवत्वं व्यभिचारदोषो
न योगिगम्यं परवादिसिद्धम् ॥१८॥

अन्वयार्थ - [**चेत्**] यदि [**साधन-साध्यधीः**] साधन-साध्य की बुद्धि [**अनर्थिका**] अनर्थिका (निष्प्रयोजनीय) है तो [**विज्ञानमात्रस्य**] विज्ञानमात्र तत्त्व को सिद्ध करने के लिये जो [**हेतुसिद्धिः**] हेतु दिया जाता है उसकी सिद्धि [**न**] नहीं बनती। [**अथ**] यदि (साधन-साध्य की बुद्धि) [**अर्थवत्वं**] अर्थवती (अर्थावलम्बन को लिये हुए) है तो इसी से प्रस्तुत हेतु के [**व्यभिचारदोषः**] व्यभिचार दोष आता है। यदि विज्ञानमात्र तत्त्व को [**योगिगम्यम्**] योगिगम्य कहा जाये तो [**परवादिसिद्धं न**] यह बात परवादियों को सिद्ध अथवा उनके द्वारा मान्य नहीं है।

यदि यह कहा जाये कि ऐसी कोई बुद्धि नहीं है जो बाह्य स्वलक्षण के आलम्बन में कल्पना से रहित हो, क्योंकि स्वप्नबुद्धि की तरह समस्त बुद्धिसमूह के आलम्बन में भ्रान्तपना होने से कल्पना करनी पड़ती है, अतः अपने अंशमात्ररूप तक सीमित विषय होने से विज्ञानमात्र तत्त्व की ही प्रसिद्धि होती है, उसी को मानना चाहिये। इस पर यह प्रश्न पैदा होता है कि विज्ञानमात्र की सिद्धि ससाधना है या निःसाधना? यदि ससाधना है तो साधन-साध्य की बुद्धि सिद्ध हुई, विज्ञानमात्रता न रही और यदि साधन-साध्य की बुद्धि का नाम ही विज्ञानमात्रता है तो फिर यह प्रश्न पैदा होता है कि वह बुद्धि अनर्थिका है या

अर्थवती। यदि साधन–साध्य की बुद्धि अनर्थिका (निष्प्रयोजनीय) है तो विज्ञानमात्र तत्त्व को सिद्ध करने के लिये जो (प्रतिभाससमानत्व) हेतु दिया जाता है उसकी (स्वप्नोपलम्भ–साधन की तरह) सिद्धि नहीं बनती और जब हेतु ही सिद्ध नहीं तब उससे (असिद्ध साधन से) विज्ञप्तिमात्ररूप साध्य की सिद्धि भी नहीं बन सकती।

यदि साधन–साध्य की बुद्धि अर्थवती है अर्थात् अर्थावलम्बन को लिये हुए है तो इसी से प्रस्तुत हेतु के 'व्यभिचार'[1] दोष आता है, 'सर्वज्ञान निरालम्बन है ज्ञान होने से' ऐसा दूसरों के प्रति कहना तब युक्त नहीं ठहरता; वह महान् दोष है जिसका निवारण नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसे यह अनुमान–ज्ञान स्वसाध्यरूप आलम्बन के साथ सालम्बन है वैसे विवादापन्न (विज्ञानमात्र) ज्ञान भी सालम्बन क्यों नहीं? ऐसा संशय उत्पन्न होता है। जब भी सर्ववस्तुसमूह को प्रतिभाससमानत्व–हेतु से विज्ञानमात्र सिद्ध किया जाता है तब भी यह अनुमान परार्थप्रतिभाससमान होते हुए भी वचनात्मक है अर्थात् विज्ञानमात्र से अन्य होने के कारण विज्ञानमात्र नहीं है; अतः प्रकृत हेतु के व्यभिचार–दोष सुघटित एवं अनिवार्य ही है। यदि निःसाधना सिद्धि का आश्रय लेकर विज्ञानमात्र तत्त्व को योगीगम्य कहा जाये अर्थात् यह बतलाया जाए कि साध्य के विज्ञानमात्रात्मकपना होने पर साधन का साध्यतत्त्व के साथ अनुषङ्ग है; वह भी साध्य की ही कोटि में स्थित है, इसलिये समाधि–अवस्था में योगी को प्रतिभाससमान होने वाला जो संवेदनाद्वैत है वही तत्त्व है, क्योंकि स्वरूप की स्वतः गति (ज्ञप्ति) होती है, उसे अपने–आप से ही जाना जाता है; तब यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह बात परवादियों को सिद्ध अथवा उनके द्वारा मान्य नहीं है। जो किसी योगी के गम्य हो वह परवादियों के द्वारा मान्य ही हो ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है; यह तो अपनी घरेलू मान्यता ठहरी। अतः निःसाधना सिद्धि का आश्रय लेने पर परवादियों को विज्ञानमात्र अथवा संवेदनाद्वैत तत्त्व का प्रत्यय (बोध) नहीं कराया जा सकता।

---

1. हेतु के रहने पर साध्य के न रहने को 'व्यभिचार' दोष कहते हैं। बौद्धों का कहना है कि जो–जो ज्ञान का कारण होता है, वह–वह ही ज्ञान का विषय होता है। इस अनुमान में 'कारण होना' हेतु है और 'विषय होना' साध्य है। इन्द्रियों में हेतु – 'कारण होना' – तो है क्योंकि वे ज्ञान में कारण हैं, परन्तु साध्य – 'विषय होना' – नहीं है क्योंकि अपनी इन्द्रियों से अपनी ही इन्द्रियों को नहीं जाना जा सकता – इस प्रकार इन्द्रियों के साथ व्यभिचार दोष आता है। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, 2 : 10, पृ. 47)

विज्ञानाद्वैत में स्वसंवेदन भाव नहीं बनता है-

> **तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पै-**
> **र्विश्वाऽभिलापाऽऽस्पदतामतीतम् ।**
> **न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं**
> **सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्तिबाह्यम् ॥१९॥**

अन्वयार्थ - जो **[तत्त्वम्]** (विज्ञानाद्वैत)[1] तत्त्व **[सकलैः विकल्पैः]** सकल विकल्पों से **[विशुद्धम्]** शून्य है वह **[स्वस्य वेद्यं न]** स्वसंवेद्य नहीं हो सकता। (इसी तरह) **[विश्वा-अभिलापा-आस्पदताम् अतीतम्]** सम्पूर्ण अभिलापों (कथन प्रकारों) की आस्पदता (आश्रयता) से रहित (वह विज्ञानाद्वैत तत्त्व) **[न च तत् निगद्यम्]** निगद्य (कथन के योग्य) भी नहीं हो सकता। (अतः हे वीर जिन!) **[भवद्-उक्ति-बाह्यम्]** आपकी उक्ति (अनेकान्तात्मक स्याद्वाद) से जो बाह्य है - सर्वथा एकान्तरूप विज्ञानाद्वैत तत्त्व - वह **[सुषुप्त्यवस्थम्]** सुषुप्ति (प्रगाढ़ निद्रा) की अवस्था को प्राप्त है।

जो विज्ञानाद्वैत तत्त्व सकल विकल्पों से शून्य है अर्थात् कार्य-कारण, ग्राह्य-ग्राहक, वास्य-वासक, साध्य-साधन, बाध्य-बाधक, वाच्य-वाचक भाव आदि कोई भी प्रकार का विकल्प जिसमें नहीं है, वह स्वसंवेद्य नहीं हो सकता; क्योकि संवेदनावस्था में योगी के अन्य सब विकल्पों के दूर होने पर भी ग्राह्य-ग्राहक के आकार विकल्पात्मक संवेदन का

---

1. सौत्रान्तिक बाह्य-पदार्थों को प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय मानता है। योगाचार (विज्ञानाद्वैत) सौत्रान्तिक से भी एक कदम आगे बढ़कर कहता है कि जब बाह्य अर्थ का प्रत्यक्ष ही नहीं होता है तो उसे मानने की भी क्या आवश्यकता है? जब बाह्यार्थ की सत्ता ज्ञान पर अवलम्बित है तो ज्ञान की वास्तविक सत्ता है, बाह्यार्थ तो निःस्वभाव तथा स्वप्न के समान है। विज्ञान को चित्त, मन तथा विज्ञप्ति भी कहते हैं।
विज्ञानवाद में आलयविज्ञान का स्थान महत्त्वपूर्ण है। आलयविज्ञान वह तत्त्व है जिसमें संसार के समस्त धर्मों के बीज सन्निविष्ट रहते हैं, उत्पन्न होते हैं और पुनः विलीन हो जाते हैं। आलय का अर्थ स्थान है। जितने क्लेश उत्पादक धर्म हैं उनके बीजों का यह स्थान है। इसी विज्ञान से संसार के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, पृ. 47-49)

प्रतिभासन होता है। बिना इसके वह बनता ही नहीं और जब विकल्पात्मक संवेदन हुआ तो सकल विकल्पों से शून्य विज्ञानाद्वैत न रहा।

इसी तरह जो विज्ञानाद्वैत तत्त्व सम्पूर्ण अभिलापों (कथन प्रकारों) की आस्पदता (आश्रयता) से रहित है वह जाति, गुण, द्रव्य, क्रिया और यदृच्छा (संकेत) की कल्पनाओं से शून्य होने के कारण उस प्रकार के किसी भी विकल्पात्मक शब्द का उसके लिये प्रयोग नहीं किया जा सकता। तब वह निगद्य (कथन के योग्य) भी नहीं हो सकता, दूसरों के द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता।

अतः, हे वीर जिन! आपकी उक्ति (अनेकान्तात्मक स्याद्वाद) से बाह्य वह सर्वथा एकान्तरूप विज्ञानाद्वैत तत्त्व विकल्प और अभिलाप (वचन) से सर्वथा शून्य होने के कारण सुषुप्ति की अवस्था को प्राप्त है; सुषुप्ति में संवेदन की जो अवस्था होती है वही उसकी अवस्था है। और इससे यह भी फलित होता है कि स्याद्वाद का आश्रय लेकर ऋजुसूत्र-नयावलम्बियों[1] के द्वारा जो यह माना जाता है कि विज्ञान का अर्थतत्त्व विज्ञान के अर्थपर्याय[2] के आदेश से ही सर्व-विकल्पों तथा अभिलापों से रहित है और व्यवहार-नयावलम्बियों[3] के द्वारा उसे विकल्पों तथा अभिलापों का आश्रय-स्थान बताया जाता है वह सब आपकी उक्ति से बाह्य नहीं है; आपके 'सर्वथा-नियम-त्यागी'[4] स्याद्वाद-मत के अनुरूप है।

---

1. जो नय ऋजु अर्थात् अवक्र, सरल को सूचित अथवा ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र-नय है। (**'आलापपद्धति'**, सूत्र 199, पृ. 144)
2. पर्याय के दो भेद हैं - अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय। इनमें अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती और क्षण-क्षण में नाश होती रहती है। किन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है अर्थात् शब्दों द्वारा कही जा सकती है और चिरस्थायी है। (**'आलापपद्धति'**, व्याख्या सूत्र 15, पृ. 17)
3. संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थ को भेदरूप से व्यवहार करता है, ग्रहण करता है वह व्यवहार-नय है। (**'आलापपद्धति'**, सूत्र 198, पृ. 144)
4. परसमय अर्थात् अन्य दर्शनों का वचन मिथ्या है, क्योंकि वे वस्तु को 'सर्वथा' एकरूप ही मानते हैं। किन्तु जैनों का वचन सत्य है, क्योंकि वे वस्तु को 'कथंचित' उस रूप कहते हैं। (**'गोम्मटसार कर्मकाण्ड'**, भाग 2, गा. 895, पृ. 1246)

स्वसंवेदनाद्वैत मात्र गूंगे की भाषा के समान प्रलाप-मात्र (निरर्थक) है-

मूकात्मसंवेद्यवदात्मवेद्यं
तन्म्लिष्टभाषाप्रतिमप्रलापम् ।
अनङ्गसंज्ञं तदवेद्यमन्यैः
स्यात् त्वद्द्विषां वाच्यमवाच्यतत्त्वम् ॥२०॥

अन्वयार्थ - जिस प्रकार [**मूकात्म-संवेद्यवत्**] मूक व्यक्ति का (गूंगे का) स्वसंवेदन [**आत्मवेद्यम्**] आत्मवेद्य है (स्वयं के द्वारा ही जाना जाता है), उसी तरह विज्ञानाद्वैततत्त्व भी आत्मवेद्य है। [**तत्**] वह स्वसंवेदन [**म्लिष्टभाषा-प्रतिम-प्रलापम्**] (गूंगे की) अस्पष्ट भाषा के समान प्रलाप-मात्र है। साथ ही वह [**अनङ्गसंज्ञम्**] अनङ्गसंज्ञ है (किसी भी अंग-संज्ञा के द्वारा उसका संकेत नहीं किया जा सकता) तथा [**तत्**] वह (स्वसंवेदन) [**अन्यैः अवेद्यम्**] दूसरों के द्वारा अवेद्य (वेदन योग्य नहीं) है। [**स्यात् त्वद्द्विषाम्**] ऐसा आपसे - आपके स्याद्वाद मत से - द्वेष रखने वाले लोगों (स्वसंवेदनाद्वैतवादियों) का जो यह कहना है इससे उनका [**अवाच्य तत्त्वम्**] सर्वथा अवाच्य (कथन के अयोग्य) तत्त्व [**वाच्यम्**] वाच्य (कथन के योग्य) हो जाता है!

जिस प्रकार गूंगे पुरुष का स्वसंवेदन आत्मवेद्य है (स्वयं के द्वारा ही जाना जाता है), उसी तरह विज्ञानाद्वैततत्त्व भी आत्मवेद्य है। आत्मवेद्य अथवा स्वसंवेद्य जैसे शब्दों के द्वारा भी उसका अभिलाप (कथन) नहीं बनता। उस स्वसंवेदन का कथन गूंगे की अस्पष्ट भाषा के समान प्रलाप-मात्र (निरर्थक) है। साथ ही अभिलाप्य (कथन के योग्य) न होने से वह अनङ्गसंज्ञ है अर्थात् किसी भी अंग-संज्ञा के द्वारा उसका संकेत नहीं किया जा सकता। जब वह अनभिलाप्य (कथन के अयोग्य) और अनङ्गसंज्ञ है तब दूसरों के द्वारा अवेद्य (अज्ञेय अर्थात् वेदन योग्य नहीं) है। न तो शब्द के द्वारा, न ही किसी अंग के द्वारा बताया जा सकता है; वह तो केवल स्वसंवेद्य है। इस सब कथन का अर्थ यह हुआ कि वह विज्ञानाद्वैततत्त्व दूसरों के द्वारा अवेद्य है; एक चित्त की बात कोई दूसरा चित्त नहीं जान

सकता है, उसका प्रतिपादन भी नहीं किया जा सकता है।
ऐसा, हे वीर जिन! आपसे – आपके स्याद्वाद मत से – द्वेष रखने वाले स्वसंवेदनाद्वैतवादियों का जो यह कहना है इससे उनका सर्वथा अवाच्य विज्ञानाद्वैततत्त्व वाच्य हो जाता है! इस पर भी जो यही कहते हैं कि वह वाच्य नहीं होता तो उनसे क्या बात की जाये? उनके साथ तो मौनावलम्बन ही श्रेष्ठ है।

संवेदनाद्वैत में संवृति और परमार्थ दोनों का अभाव होता है-

अशासदञ्जांसि वचांसि शास्ता
शिष्याश्च शिष्टा वचनैर्न ते तैः ।
अहो! इदं दुर्गतमं तमोऽन्यत्
त्वया विना श्रायसमार्य! किं तत् ॥२१॥

अन्वयार्थ - [**शास्ता**] शास्ता (सुगत) ने [**अञ्जांसि वचांसि**] अनवद्य (निर्दोष) वचनों की शिक्षा दी [**च तैः वचनैः**] और उन वचनों के द्वारा [**ते शिष्याः**] उनके वे शिष्य [**शिष्टा न**] शिक्षित नहीं हुए। [**अशासत्**] (उनका) यह कथन [**अहो!**] अहो! [**इदं तमः अन्यत् दुर्गतमम्**] दूसरा दुर्गतम (अलंघनीय) अंधकार है। [**आर्य!**] हे आर्य! - वीर जिन! [**त्वया विना**] आपके बिना [**किं तत् श्रायसम्**] श्रायस (निःश्रेयस कल्याण अथवा निर्वाण) बनता कौन सा है?

बौद्ध मत में मान्य संवेदनाद्वैत को परमार्थभूत मानने पर भी वह सम्यक् सिद्ध नहीं होता। शास्ता (बुद्धदेव, सुगत) ने ही (यथार्थ दर्शनादि गुणों से युक्त होने के कारण) अनवद्य (निर्दोष) वचनों की शिक्षा दी परन्तु उन वचनों के द्वारा उनके वे शिष्य शिक्षित नहीं हुए। उनका (बौद्धों का) यह कथन दूसरा दुर्गतम (अलंघनीय) अंधकार है; अतीव दुष्पार महामोह है, क्योंकि गुणवान शास्ता होने पर प्रतिपत्तियोग्य (बोधगम्यतायुक्त) प्रतिपाद्यों (शिष्यों) के लिये सत्य-वचनों के द्वारा ही तत्त्वानुशासन का होना प्रसिद्ध है। बौद्धों के यहाँ बुद्धदेव के शास्ता प्रसिद्ध होने पर भी, उनके वचनों को सत्यरूप में स्वीकार करने पर भी और (बुद्धप्रवचन सुनने के लिये) प्रणिहितमन (दत्तावधान) शिष्यों के रहते हुए भी वे शिष्य उन वचनों से शिक्षित नहीं हुए, यह कथन बौद्धों का कैसे अमोह कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता है और इसलिए उनका यह दर्शन (सिद्धान्त) परीक्षावानों के लिये उपहासास्पद जान पड़ता है।

यदि यह कहा जाये कि इस शासन में संवृति से अर्थात् व्यवहार से शास्ता, शिष्य, शासन तथा शासन के उपायभूत वचनों का सद्भाव स्वीकार किया जाने से और परमार्थ से

संवेदनाद्वैत के निःश्रेयस-लक्षण की (निर्वाणरूप की) प्रसिद्धि होने से यह दर्शन उपहासास्पद नहीं है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, हे आर्य! - वीर जिन! आपके बिना (आप जैसे स्याद्वादनायक शास्ता के अभाव में) निःश्रेयस (कल्याण अथवा निर्वाण) बनता कौन सा है? अर्थात् संवेदनाद्वैत को किस प्रकार निःश्रेयसरूप कहा जाये? सर्वथा एकान्तवाद का आश्रय लेने वाले शास्ता के द्वारा कुछ भी सम्भव नहीं है, ऐसा प्रमाण से परीक्षा किये जाने पर जाना जाता है। सर्वथा एकान्तवाद में संवृति और परमार्थ ऐसे दो रूप से कथन ही नहीं बनता और दो रूप से कथन में न तो सर्वथा एकान्तवाद और न ही स्याद्वादमत का विरोध स्थिर रहता है।

संवेदनाद्वैत की सिद्धि किसी प्रमाण से संभव नहीं-

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र
तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः
का तद्गतिः? कष्टमश्रृण्वतां ते ॥२२॥

अन्वयार्थ - [**यत्र**] जिस (संवेदनाद्वैतरूप तत्त्व) में [**प्रत्यक्षबुद्धिः**] प्रत्यक्षबुद्धि (प्रत्यक्ष ज्ञान) [**न क्रमते**] प्रवृत्त नहीं होती, [**तत् लिङ्गगम्यं**] उसे यदि लिङ्गगम्य (अनुमान-गम्य, हेतु के द्वारा जानने योग्य) माना जाये तो [**तदर्थ लिङ्गम् न**] उसमें अर्थरूप लिङ्ग सम्भव नहीं हो सकता [**वा**] और [**वाचः**] (परार्थानुमानरूप) वचन का [**तद्विषयेण योगः न**] उसके (संवेदनाद्वैतरूप) विषय के साथ योग नहीं बनता है। [**तत् का गतिः**] उस (संवेदनाद्वैतरूप तत्त्व) की क्या गति है? अतः (हे वीर जिन!) [**ते**] आपके (स्याद्वाद शासन को) [**अश्रृण्वताम्**] नहीं सुनने वालों का (संवेदनाद्वैतरूप) दर्शन [**कष्टम्**] कष्टरूप है।

जिस संवेदनाद्वैतरूप तत्त्व में प्रत्यक्षबुद्धि प्रवृत्त नहीं होती अर्थात् प्रत्यक्षतः किसी के द्वारा उसका तद्रूप निश्चय नहीं बनता, उसे यदि स्वर्ग-प्रापणशक्ति आदि की तरह लिङ्गगम्य (अनुमान-गम्य) माना जाये तो उसमें अर्थरूप लिङ्ग सम्भव नहीं हो सकता। बौद्धों के अनुसार अनुपलब्धि के अलावा लिङ्ग (हेतु) दो प्रकार के माने गये हैं[1] - स्वभावलिङ्ग और कार्यलिङ्ग। स्वभावलिङ्ग अर्थात् पदार्थ का सुगमतया स्वभाव से ही परिचय बन जाये और कार्यलिङ्ग अर्थात् कार्य देख कर परिचय बन जाये। स्वभावलिङ्ग से तो संवेदनाद्वैतरूप

---

1. बौद्ध कहते हैं कि विधिसाधक हेतु (लिङ्ग) दो प्रकार का ही है- स्वभावहेतु और कार्यहेतु; क्योंकि कारण का कार्य के साथ अविनाभाव का अभाव होने से हेतु नहीं माना जा सकता। कारण, कार्य वाले अवश्य हों, ऐसा नहीं है- इस प्रकार वचन है। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, सूत्र 56, पृ. 106)
साध्य-साधन में तादात्म्य सम्बन्ध के होने पर उसका स्वभावहेतु में अन्तर्भाव होता है। तदुत्पत्ति

तत्त्व का परिचय होता नहीं क्योंकि वह प्रत्यक्ष और बुद्धि (अनुमान) से अतिक्रान्त है (अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमान से स्वसंवेदनाद्वैत नहीं जाना जा सकता); उसे लिङ्गान्तर से गम्य मानने पर अनवस्था[2] दोष आता है। कार्यलिङ्ग से यदि इसकी संभावना की जाती है तो द्वैतता का प्रसंग आता है और परार्थानुमानरूप-वचन[3] का उसके संवेदनाद्वैतरूप विषय के साथ योग नहीं बैठता है; परम्परा से भी सम्बन्ध नहीं बनता। उस संवेदनाद्वैतरूप तत्त्व की क्या गति है? प्रत्यक्षा, लैङ्गिकी और शाब्दिकी कोई भी गति न होने से उसकी प्रतिपत्ति (बोधगम्यता) नहीं बनती अर्थात् प्रत्यक्ष से, हेतु से एवं वचनों के अभाव में स्वसंवेदनाद्वैत की सिद्धि नहीं होती; वह किसी के द्वारा जाना नहीं जा सकता। अतः हे वीर जिन! आपके स्याद्वाद शासन पर ध्यान न देने वालों का संवेदनाद्वैतरूप दर्शन कष्टरूप है।

योगाचार विज्ञानाद्वैतवादी के अनुसार एक अद्वितीय ज्ञान का ही वेद्य-वेदक रूप से प्रतिभास होता है। ज्ञान मात्र ही तत्त्व है, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई वेद्य नहीं है, ज्ञान ही स्वयं वेद्य और वेदक है।

विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान को क्षणिक, अनन्यवेद्य और नानासन्तान वाला मानते हैं, किन्तु किसी प्रमाण के अभाव में इस प्रकार के ज्ञान की सिद्धि कैसे हो सकती है? स्वसंवेदन ज्ञान से विज्ञानाद्वैत की सिद्धि मानना ठीक नहीं है। ज्ञान का स्वसंवेदन मान भी लिया जाए, किन्तु निर्विकल्प होने से वह तो असंवेदन के समान ही होगा। तथा उसमें प्रमाणान्तर (विकल्पज्ञान) की अपेक्षा माननी ही पड़ेगी। विज्ञानाद्वैतवादी क्षणिक आदिरूप जिस प्रकार के ज्ञान का वर्णन करते हैं उस प्रकार का ज्ञान कभी भी अनुभव में नहीं आता है।

सम्बन्ध के होने पर कार्यहेतु अथवा कारणहेतु में अन्तर्भाव होता है। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, सूत्र 57, पृ. 108)

स्वभावलिङ्ग का दृष्टान्त- 'वृक्षोऽयं शिशपात्वात्' - यह वृक्ष है, शिंशपा (शीशम का पेड़) होने से। कार्यलिङ्ग का दृष्टान्त- 'अग्निरत्र धूमात्' - यहाँ अग्नि है, धूम होने से। (देखें, **'न्यायावतार'**, कारिका 5, पृ. 49)

2. देखें, फुटनोट, पूर्व पृ. 16

3. वचन (वाक्य) का तात्पर्य आगम से है। जब ज्ञान को छोड़कर अन्य कोई वस्तु सत्य नहीं है तो अनुमान और आगम कैसे सत्य हो सकते हैं? असत्य होने से अनुमान और आगम प्रमाणाभास होंगे। किन्तु प्रमाणाभास व्यवहार प्रमाण के होने पर ही हो सकता है। जब ज्ञाननद्वैतवादियों के यहाँ कोई प्रमाण ही नहीं है तो प्रमाणाभास कैसे कह सकते हैं? (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 79, पृ. 271)

इसलिए स्वसंवेदन से विज्ञानमात्र की सिद्धि नहीं होती है। अनुमान से भी उसकी सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि हेतु और साध्य में अविनाभाव का ज्ञान कराने वाला कोई प्रमाण नहीं है। निर्विकल्प होने से तथा निकटवर्ती पदार्थों को विषय करने के कारण प्रत्यक्ष से अविनाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है। अनुमान (बुद्धि) से अविनाभाव का ज्ञान करने में अन्योन्याश्रय और अनवस्था दोष आते हैं। और मिथ्याभूत विकल्पज्ञान के द्वारा विज्ञानमात्र की सिद्धि करने पर बहिरर्थ की सिद्धि भी उसी प्रकार क्यों नहीं हो जाएगी? यदि किसी प्रमाण से विज्ञानाद्वैत की सिद्धि होती है तो उसी प्रमाण से बहिरर्थ की भी सिद्धि होने में कौन सी बाधा है? स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष में दूषण देने के लिए किसी प्रमाणभूत ज्ञान को मानना परमावश्यक है।

(**'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 79, पृ. 271-273)

संवेदनाद्वैत को संवृतिवाद से सिद्ध करने पर मोक्षादि परमार्थ-शून्य ठहरते हैं-

रागाद्यविद्याऽनलदीपनं च
विमोक्षविद्याऽमृतशासनं च ।
न भिद्यते संवृतिवादिवाक्यं
भवत्प्रतीपं परमार्थशून्यम् ॥२३॥

अन्वयार्थ – (यदि संवृति से संवेदनाद्वैत तत्त्व की प्रतिपत्ति मानकर बौद्ध-दर्शन की कष्टरूपता का निषेध किया जाये तो वह भी ठीक नहीं बैठता; क्योंकि) [**संवृतिवादि वाक्यम्**] संवृतिवादियों का वाक्य [**रागाद्यविद्याऽनलदीपनं च**] रागादि-अविद्यारूप अग्नि को बढ़ाने वाला (अनल का दीपनरूप) है [**विमोक्ष-विद्या-अमृत-शासनं च**] और विमोक्ष-विद्या अमृत-शासनरूप (वाक्य) – [**न भिद्यते**] इन दोनों में कोई भेद नहीं है। (क्योंकि, हे वीर जिन!) [**भवत्प्रतीपम्**] (ये दोनों वाक्य) आपके अनेकान्त-शासन के विपरीत (भवत्प्रतीप) हैं, [**परमार्थशून्यम्**] (और इसलिये) परमार्थ-शून्य हैं।

जिस प्रकार संवृतिवादियों[1] के यहाँ 'अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः'[2] – अर्थात् स्वर्ग की इच्छा करने वाले अग्नि से यज्ञ करें – इत्यादि रागादि-अविद्या अनल के दीपक वाक्यसमूह (रागादिक जो अज्ञानरूप अग्नि है उसको प्रदीप्त करने वाला वचन) को परमार्थ-शून्य (असत्यार्थ) बतलाया जाता है, उसी प्रकार उनका (बौद्ध स्वसंवेदनवादियों का) 'सम्यग्ज्ञान-वैतृष्ण-भावनातो निःश्रेयसम्' – अर्थात् सम्यग्ज्ञान और तृष्णारहित भावना से मोक्ष प्राप्त होता है – इत्यादि विमोक्षविद्यामृत का शासनात्मक वाक्यसमूह भी परमार्थ-शून्य ठहरता है; क्योंकि जब तत्त्वमात्र विज्ञानाद्वैत है तो मोक्ष का उपाय बनाना भी

---

1. देखें, पूर्व कारिका 17, पृ. 39 – 'लोकसंवृति सत्य' और 'परमार्थ सत्य'

2. मीमांसा-दर्शन। मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। मीमांसक चूंकि ईश्वर सत्ता को नहीं मानते, अतः सृष्टि को अनादि-निधन मानते हैं।

परमार्थ-शून्य ठहरता है। दोनों में (विधिवादी मीमांसक एवं बौद्ध विज्ञानाद्वैत में) परमार्थ-शून्यता विषयक कोई भेद नहीं है, क्योंकि हे वीर जिन! ये दोनों वाक्य भवत्प्रतीप हैं अर्थात् आपके अनेकान्त-शासन के प्रतिकूल सर्वथा एकान्त-विषयरूप से ही अंगीकृत हैं और इसलिये परमार्थ-शून्य हैं। आपके अनेकान्त-शासन का कोई भी वाक्य सर्वथा परमार्थ-शून्य नहीं है - मोक्ष विद्यामृत के शासन को लिये हुए वाक्य जिस प्रकार मोक्षकारणरूप परमार्थ से शून्य नहीं है उसी प्रकार रागाद्यविद्यानल का दीपक वाक्य भी बन्धकारणरूप परमार्थ से (वास्तविकता से) शून्य नहीं है।

संवेदनाद्वैत में विद्या की प्राप्ति असंभव है-

विद्याप्रसूत्यै किल शील्यमाना
भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा ।
अहो! त्वदीयोक्त्यनभिज्ञमोहो
यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥२४॥

अन्वयार्थ - [**गुरुणोपदिष्टा**] गुरु के द्वारा उपदिष्ट (कही हुई) [**अविद्या**] अविद्या भी [**किल**] निश्चय से [**शील्यमाना**] भाव्यमान (विशिष्ट भावना को प्राप्त, अभ्यास को प्राप्त) हुई [**विद्या-प्रसूत्यै**] विद्या की उत्पत्ति के लिए [**भवति**] समर्थ होती है! [**अहो!**] आश्चर्य है कि [**त्वदीयोक्त्यनभिज्ञ-मोहः**] हे वीर जिन! आपकी उक्ति से अनभिज्ञ का (बौद्धों के एक सम्प्रदाय का) यह कैसा मोह (विपरीताभिनिवेश, विपरीत मान्यता) है (जो यह प्रतिपादन करता है कि) वह [**यत् जन्मने**] जो इस जन्म के लिए कारण था [**यत् तत् अजन्मने तत्**] ठीक वही मोह जन्म से रहित होने के लिए भी कारण है?

हे वीर जिन! आपकी उक्ति से (स्याद्वादात्मक कथन-शैली से) अनभिज्ञ बौद्धों के एक सम्प्रदाय का यह कैसा मोह है जो यह प्रतिपादन करता है कि गुरु के द्वारा उपदिष्ट जो अविद्या भी भाव्यमान हुई अर्थात् विशिष्ट भावना (अभ्यास) को प्राप्त हुई वह निश्चय से विद्या को जन्म देने में समर्थ होती है। आश्चर्य है कि इससे जो अविद्या अविद्यान्तर (उत्तर-अविद्या) के जन्म का कारण सुप्रसिद्ध है, वही उसके (उत्तर-अविद्या के) अजन्म का भी कारण हो जाती है। और यह स्पष्ट विपरीताभिनिवेश है जो दर्शनमोह के उदयाऽभाव में नहीं बन सकता, अर्थात् दर्शनमोह (मिथ्यात्व) के उदय में ही बन सकता है; जैसे कि जो मदिरापान 'मद' के जन्म के लिये प्रसिद्ध है, वही मद की अनुत्पत्ति का हेतु होने के योग्य नहीं होता।

यदि कोई कहे कि जिस प्रकार विषभक्षण विषविकार का कारण प्रसिद्ध होते हुए भी किञ्चित् विषविकार के अजन्म का (उसे उत्पन्न न होने देने का) हेतु देखा जाता है, उसी

प्रकार कोई अविद्या भी भाव्यमान (विशिष्ट भावना को प्राप्त) हुई स्वयं अविद्या के जन्म के अभाव की हेतु होगी, इसमें विरोध की कोई बात नहीं है।[1] यह कथन अपर्यालोचित (अपरिपक्वतापूर्ण) है, क्योंकि भ्रम-दाह-मूर्छादि विकार को जन्म देने वाला जङ्गमविष अन्य है और उसे जन्म न देने वाला अर्थात् प्रत्युत उस विकार को दूर कर देने वाला स्थावरविष अन्य ही है, जो कि उस विष का प्रतिपक्षभूत है और इसलिये अमृत-कोटि में स्थित है, इसी से विष का 'अमृत' नाम भी प्रसिद्ध है।

विष सर्वथा विष नहीं होता, उसे सर्वथा विष मानने पर वह विषान्तर का प्रतिपक्षभूत नहीं बन सकता। अत: विष का यह उदाहरण विषम है। उसे यह कह कर साम्य उदाहरण नहीं बतलाया जा सकता कि अविद्या भी जो संसार की हेतु है वह अनादि-वासना से उत्पन्न हुई अन्य ही है और अविद्या के अनुकूल है, किन्तु मोक्ष की हेतुभूत अविद्या दूसरी है, जो अनादि-अविद्या के जन्म की निवृत्ति करने वाली तथा विद्या के अनुकूल है, और इसलिये संसार की हेतु अविद्या के प्रतिपक्षभूत है, क्योंकि जो सर्वदा अविद्या के प्रतिपक्षभूत है, उससे अविद्या का जन्म नहीं हो सकता; उसके लिये तो विद्यात्व का प्रसंग उपस्थित होता है। यदि अनादि-अविद्या के प्रतिपक्षत्व के कारण उस अविद्या को कथञ्चित् विद्या कहा जायेगा तो उससे संवृतिवादियों के मत का विरोध होकर स्याद्वाद-मत के आश्रय का प्रसंग आएगा, क्योंकि स्याद्वादियों के यहाँ केवलज्ञानरूप परम-विद्या की अपेक्षा मतिज्ञानादिरूप क्षायोपशमिकी अपकृष्ट विद्या भी अविद्या मानी गयी है; न कि अनादि मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शनरूप अविद्या की अपेक्षा, क्योंकि उसके प्रतिपक्षभूत होने से मतिज्ञानादि के विद्यापना सिद्ध है। अत: सर्वथा अविद्यात्मक भावना गुरु के द्वारा उपदिष्ट होती हुई भी विद्या को जन्म देने में समर्थ नहीं है। ऐसी अविद्या के उपदेशक गुरु को भी अगुरुत्व का प्रसंग आता है, क्योंकि विद्या का उपदेशी ही गुरु प्रसिद्ध है और इसलिये पुरुषाद्वैत (विधिवाद मीमांसक) की तरह संवेदनाद्वैत तत्त्व भी अनुपाय ही है; किसी भी उपाय अथवा प्रमाण से वह जाना नहीं जा सकता।

---

1. आयुर्वेद में कुचला आदि विष का शोधन कर औषधि के रूप में प्रयोग किया जाता है।

चतुर्थ परिच्छेद (२५-३४)

माध्यमिक (शून्यवाद) बौद्ध-दर्शन की मान्यता में दोष एवं उनका निराकरण

शून्यवाद में मान्य तत्त्व व्यवस्था (पूर्वपक्ष)-

अभावमात्रं परमार्थवृत्तेः
सा संवृतिः सर्वविशेषशून्या ।
तस्या विशेषौ किल बन्धमोक्षौ
हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम् ॥२५॥

अन्वयार्थ - [**परमार्थवृत्तेः**] परमार्थवृत्ति से (तत्त्व) [**अभावमात्रम्**] अभावमात्र है। [**सा**] वह (परमार्थवृत्ति) [**संवृतिः**] संवृतिरूप (अतात्त्विकी, कल्पनात्मक) है और (संवृति) [**सर्वविशेषशून्या**] सर्वविशेषों से शून्य है तथा [**तस्याः**] उस (अविद्यात्मिका एवं सकलतात्त्विक-विशेष-शून्य संवृति) के भी जो [**बन्धमोक्षौ**] बन्ध और मोक्ष [**विशेषौ**] विशेष हैं, वे [**किल**] निश्चय से [**हेत्वात्मना**] हेत्वात्मक हैं। [**इति**] इस प्रकार यह उनका [**त्वदनाथवाक्यम्**] वाक्य है जिनके आप नाथ नहीं हैं।

(माध्यमिक-शून्यवाद के अनुसार) परमार्थवृत्ति से तत्त्व अभावमात्र है। न तो बाह्याभ्यन्तर निरन्वय क्षणिक-परमाणुमात्र तत्त्व है (श्लोक 11 से 17 तक सौत्रान्तिक मत का निराकरण हो जाने से) और न अन्तस्तत्त्व-संवित्ति-परमाणुमात्र या संवेदनाद्वैतमात्र तत्त्व है (श्लोक 18 से 24 तक योगाचार-ज्ञानाद्वैत मत का निरसन हो जाने से)। किन्तु माध्यमिक मत की मान्यतानुरूप शून्यतत्त्व ही तत्त्व है और वह परमार्थवृत्ति संवृतिरूप (अतात्त्विकी, कल्पनामात्र, व्यवहारमात्र) है, क्योंकि शून्यसंवित्ति तात्त्विकी (सत्यार्थ, परमार्थभूत) होने पर सर्वथा शून्य तत्त्व नहीं रहता, उसका प्रतिषेध हो जाता है और संवृति सर्वविशेषों से शून्य है - पदार्थसद्भाववादियों (वैभाषिक, सौत्रान्तिक) के द्वारा जो तात्त्विक विशेष माने

गये हैं उन सबसे रहित है तथा उस अविद्यात्मिक एवं सकलतात्त्विक-विशेष-शून्य संवृति के भी जो बन्ध और मोक्ष विशेष हैं, वे हेत्वात्मक हैं; अर्थात् सांवृतरूप हेतुस्वभाव के द्वारा विधीयमान हैं; शून्यवादी मान्यतानुसार आत्मीयाभिनिवेश के द्वारा बन्ध का और नैरात्म्य-भावना के अभ्यास द्वारा मोक्ष का विधान है; दोनों में से कोई भी तात्त्विक नहीं है (काल्पनिक हैं) और इसलिये दोनों विशेष विरुद्ध नहीं पड़ते।

हे वीर जिन! यह उनका (सर्वथा शून्यवादी बौद्धों का) वाक्य है जिनके आप (अनेकान्तवादी) नाथ नहीं हैं। फलतः जिनके आप नाथ हैं उन अनेकान्तवादियों का वाक्य ऐसा नहीं है किन्तु इस प्रकार है कि- स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से सत्रूप पदार्थ ही पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से अभाव (शून्य) रूप हैं। अभावमात्र के स्वरूप से ही असत् होने पर उसमें परमार्थिकत्व नहीं बनता, तब परमार्थवृत्ति से अभावमात्र कहना ही असंगत है।

दार्शनिक विकास की दृष्टि से बौद्ध दार्शनिकों के चार भेद होते हैं- 1. वैभाषिक (बाह्यार्थप्रत्यक्षवाद), 2. सौत्रान्तिक (बाह्यार्थानुमेयवाद), 3. योगाचार (विज्ञानवाद) और 4. माध्यमिक (शून्यवाद)। यह श्रेणीविभाग 'सत्ता' के आधार पर किया गया है।

वैभाषिक - वैभाषिकों के अनुसार बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। ये बाह्य तथा अभ्यन्तर समस्त धर्मों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।...

सौत्रान्तिक - इनके अनुसार बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुमान के द्वारा बाह्य पदार्थ का अनुमानरूप ज्ञान होता है। इनके मत में प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक होने के कारण उसका साक्षात्कार करना असंभव है। ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है। जिस क्षण में पदार्थ ज्ञान को उत्पन्न करता है उसी क्षण में वह नष्ट हो जाता है। फिर ज्ञान पदार्थ का साक्षात्कार कैसे कर सकता है?...

योगाचार (विज्ञानवाद) - इस मत के अनुसार बाह्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। केवल अन्तरंग पदार्थ (विज्ञान) की ही सत्ता है।... विज्ञान को चित्त, मन तथा विज्ञप्ति भी कहते हैं। चित्त को छोड़कर अन्य कोई पदार्थ सत् नहीं है। यद्यपि बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं है, फिर भी अनादिकाल से चली आ रही वासना के कारण विज्ञान का बाह्यार्थरूप से प्रतिभास होता है।...

माध्यमिक (शून्यवाद) - बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित मध्यममार्ग के अनुयायी होने के कारण

इस मत का नाम माध्यमिक पड़ा है तथा शून्य को परमार्थ मानने के कारण यह शून्यवाद भी कहा जाता है। माध्यमिकों के अनुसार विज्ञान की भी सत्ता नहीं है; जब अर्थ ही नहीं है तो ज्ञान को मानने की भी क्या आवश्यकता है? इनके अनुसार शून्य ही परमार्थ तत्त्व है।

(देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 3, पृ. 45-49)

सामान्य और विशेष से रहित वस्तु आकाश-पुष्प के समान अवस्तुभूत होती है-

व्यतीतसामान्यविशेषभावाद्
विश्वाऽभिलापाऽर्थविकल्पशून्यम् ।
खपुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं
प्रबुद्धतत्त्वाद्भवतः परेषाम् ॥२६॥

अन्वयार्थ - हे वीर जिन! [**प्रबुद्धतत्त्वात् भवतः**] प्रबुद्धतत्त्व (अनेकान्तवादी) आपसे भिन्न [**परेषाम्**] दूसरों (एकान्तवादियों) का जो [**व्यतीत-सामान्य-विशेष-भावाद्**] सर्वथा सामान्य-भाव से रहित, सर्वथा विशेष-भाव से रहित तथा (परस्पर सापेक्षरूप) सामान्य-विशेष-भाव दोनों से रहित, जो [**तत्त्वम्**] तत्त्व है, वह (प्रकटरूप में शून्यतत्त्व न होते हुए भी) [**विश्वाऽभिलापाऽर्थ-विकल्पशून्यम्**] सम्पूर्ण अभिलापों (कथनों) तथा अर्थविकल्पों (अर्थ = पदार्थ) से शून्य [**खपुष्पवत्**] आकाश-पुष्प के समान [**असत् एव स्यात्**] असत् (अवस्तु) ही है।

सामान्य और विशेष का परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है; सामान्य के बिना विशेष का और विशेष के बिना सामान्य का अस्तित्व बन नहीं सकता और इसलिये जो भेदवादी बौद्ध सामान्य को न मानकर सर्वतः व्यावृतरूप[1] विशेष पदार्थों को ही मानते हैं, उनके वे विशेष पदार्थ भी नहीं बन सकते। सामान्य से विशेष के सर्वथा भिन्न न होने के कारण सामान्य के अभाव में विशेष पदार्थों के भी अभाव का प्रसंग आता है और तत्त्व सर्वथा निरुपाख्य (अवास्तविक, मिथ्या) ठहरता है।

और जो अभेदवादी सांख्य सामान्य को ही एक प्रधान मानते हैं और कहते हैं कि महत्-अहंकारादि विशेष चूंकि सामान्य के बिना नहीं होते इसलिये वे अपना कोई अलग (पृथक्) व्यक्तित्व (अस्तित्व) नहीं रखते, अव्यक्त सामान्य के ही व्यक्तरूप हैं; उनके सकल विशेषों का अभाव होने पर, विशेषों के साथ अविनाभावी सामान्य के भी अभाव

1. 'यह वह नहीं है' ऐसे ज्ञान को व्यावृत प्रत्यय कहते हैं। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, 4 : 2)

का प्रसंग आता है और व्यक्ताऽव्यक्तात्मक भोग्य के अभाव होने पर भोक्ता आत्मा का अस्तित्व भी असंभव ठहरता है और इस तरह उन सांख्यों के न चाहते हुए भी सर्वशून्यत्व की सिद्धि घटित होती है। व्यक्त और अव्यक्त में कथञ्चित् भेद मानने पर स्याद्वाद-न्याय के अनुसरण का प्रसंग आता है और तब वह वाक्य (वचन) उनका नहीं रहता जिनके आप (वीर जिनेन्द्र) नायक नहीं हैं।

इसी तरह परस्पर निरपेक्षरूप से सामान्य-विशेष भाव को मानने वाले जो यौग हैं - नैयायिक तथा वैशेषिक हैं - वे कथञ्चित् रूप से परस्पर सापेक्ष सामान्य-विशेष को न मानने के कारण व्यतीत-सामान्य-विशेष (सामान्य-विशेष से रहित) भाववादी प्रसिद्ध ही हैं और वीरशासन से बाह्य हैं, उनका भी तत्त्व वास्तव में विश्वाऽभिलाप (सम्पूर्ण वचन) और अर्थ-विकल्प से शून्य होने के कारण आकाश-पुष्प के समान उसी प्रकार अवस्तु ठहरता है जिस प्रकार कि व्यतीत-विशेष भाववादियों का अथवा सर्वथा शून्यवादियों का तत्त्व अवस्तु ठहरता है।

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होती है। उस वस्तु का जो भाव वह वस्तुत्व है। (**'आलापपद्धति'**, 95, पृ. 99)

एकान्त से एकरूप मानने पर सर्वथा एकरूपता होने से विशेष का अभाव हो जायेगा और विशेष का अभाव होने पर सामान्य का भी अभाव हो जायेगा। इसी तथ्य को आचार्य देवसेन ने निम्न गाथा द्वारा स्पष्ट किया है-

निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवत् ।
सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥९॥ (इति ज्ञेयः)

अर्थात् विशेष से रहित सामान्य निश्चय से गधे के सींग के समान है और सामान्य से रहित होने के कारण विशेष भी गधे के सींग के समान है, अर्थात् अवस्तु है; ऐसा जानना चाहिए। (**'आलापपद्धति'**, 131, पृ. 118)

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि ।
दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणा परूविंति ॥१२॥ (पंचास्तिकाय-संग्रह)

अर्थात् पर्यायों से रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्यायें नहीं होती हैं, दोनों का अनन्यभाव (अनन्यपना) श्रमण प्ररूपित करते हैं।

शून्यवाद में बन्ध और मोक्ष दोनों की व्यवस्था नहीं बनती-

अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपायाद्
गतिर्भवेत्तौ वचनीयगम्यौ ।
सम्बन्धिनौ चेन्न विरोधि दृष्टं
वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत् ॥२७॥

अन्वयार्थ - **[अतत्स्वभावे अपि]** (यदि कोई कहे कि) अतत्-स्वभाव (शून्य-स्वभाव) के होने पर भी (अभावरूप सत्स्वभाव तत्त्व के मानने पर भी) **[अनयोः]** इन (बन्ध और मोक्ष) दोनों की **[उपायात्]** उपाय से **[गतिः भवेत्]** गति होती है (दोनों जाने जाते हैं), **[तौ]** दोनों **[वचनीयगम्यौ]** वचनीय हैं और गम्य हैं, साथ ही **[सम्बन्धिनौ]** दोनों सम्बन्धी हैं, तो **[चेत् न]** यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि **[विरोधि दृष्टम्]** विरोध देखा जाता है (इस प्रकार सत्स्वभावरूप तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता)। जो **[यथार्थं]** यथार्थ **[वाच्यं]** वाच्य होता है **[तत्]** वह **[न च दूषणं]** दूषणरूप नहीं होता।

शून्यवादी कहते हैं कि अतत्-स्वभाव (शून्य-स्वभाव, अभावरूप सत्स्वभाव तत्त्व) के होने पर भी बन्ध और मोक्ष इन दोनों की उपाय से गति होती है अर्थात् उपाय द्वारा दोनों जाने जाते हैं, दोनों वचनीय हैं और गम्य हैं। जब परार्थरूप वचन बन्ध-मोक्ष की गति का (जानकारी का) उपाय होता है तब ये दोनों 'वचनीय' होते हैं और जब स्वार्थरूप प्रत्यक्ष या अनुमान बन्ध-मोक्ष की गति का उपाय होता है तब ये दोनों 'गम्य' होते हैं, साथ ही दोनों सम्बन्धी हैं; परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध को लिये हुए हैं; बन्ध के बिना मोक्ष की और मोक्ष के बिना बन्ध की सम्भावना नहीं, क्योंकि मोक्ष बन्धपूर्वक होता है। मोक्ष के अभाव में बन्ध के मानने पर जो पहले से अबद्ध है उसके पीछे से बन्ध मानना पड़ेगा अथवा शाश्वतिक बन्ध का प्रसंग आयेगा। अनादि बन्ध-सन्तान की अपेक्षा से बन्ध के बन्ध-पूर्वक होते हुए भी बन्धविशेष की अपेक्षा से बन्ध के अबन्ध-पूर्वकत्व की सिद्धि होती है; प्राक्-अबद्ध (अबद्ध के पूर्व) के ही एकदेश मोक्षरूपता होने से बन्ध मोक्ष के

साथ अविनाभावी है और इस तरह दोनों अविनाभाव-सम्बन्ध से सम्बन्धित हैं। तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार सत्स्वभावरूप तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता, विरोध देखा जाता है। सर्वथा क्षणिक (अनित्य)[1] और सर्वथा अक्षणिक (नित्य)[2] आदिरूप मान्यताएँ विरोध को लिये हुए हैं। स्याद्वाद-शासन से भिन्न परमत में सत्तत्व बनता ही नहीं है। सर्वथा क्षणिक और सर्वथा अक्षणिक की मान्यता में दूसरी जाति के (परस्पर निरपेक्ष)[3] अनेकान्त का दर्शन होता है, जो सदोष है अथवा वस्तुतः अनेकान्त नहीं है। सत्तत्व सर्वथा एकान्तात्मक है ही नहीं, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसकी उपलब्धि नहीं होती।

इस पर यदि यह कहा जाये कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भले ही सत्तत्व की उपलब्धि (दर्शन-प्राप्ति) न होती हो, परन्तु परपक्ष के दूषण से तो उसकी सिद्धि होती ही है, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो यथार्थ-वाच्य होता है वह दूषणरूप नहीं होता। जिसको क्षणिक-एकान्तवादी परपक्ष में स्वयं दूषण बतलाता है उसमें यथार्थ-वाच्यता होने से अथवा परपक्ष की तरह स्वपक्ष में भी उसका सद्भाव होने से उसे दूषणरूप नहीं कह सकते,[4] वह दूषणाभास है और जो दूषण परपक्ष की तरह स्वपक्ष का भी निराकरण करता हो वह यथार्थ-वाच्य नहीं हो सकता। वास्तव में दोनों सर्वथा एकान्तों में (उभय-एकान्त में) परस्पर विरोध के कारण, अनेकान्त की निवृत्ति होती है,[5] अनेकान्त की निवृत्ति से क्रम

---

1. बौद्ध दर्शन।
2. सांख्य दर्शन।
3. यौग दर्शन (नैयायिक-वैशेषिक)। (देखें, पूर्व श्लोक 27 की टीका, पृ. 59)
4. विशेषण-विशेष्य, सामान्य-विशेष, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, कार्य-कारण, साध्य-साधन, ग्राह्य-ग्राहक, इन सबकी सिद्धि आपेक्षिक होने से इन सबका व्यवहार काल्पनिक है। ऐसा बौद्धों का अभिप्राय है।
   वैशेषिक कहते हैं कि धर्म, धर्मी आदि की सिद्धि सर्वथा अनापेक्षिक है। (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 73, पृ. 257-258)
5. अनेकान्त दर्शन (जैन दशैन) के अनुसार धर्म-धर्मी, कार्य-कारण (मोक्ष बन्ध-पूर्वक होता है) आदि की सत्ता न तो सर्वथा सापेक्ष और न सर्वथा निरपेक्ष है, किन्तु कथंचित् सापेक्ष और कथंचित् निरपेक्ष पक्ष का आश्रय लेना ही उचित है। धर्म और धर्मी का परस्पर में जो अविनाभाव है, केवल वही परस्पर में सापेक्षता से सिद्ध होता है। धर्म और धर्मी का स्वरूप परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता; वह तो स्वतः सिद्ध है। (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 75, पृ. 260-261)

और अक्रम निवृत्त हो जाते हैं, क्रम–अक्रम की निवृत्ति से अर्थक्रिया की निवृत्ति हो जाती है, क्रम–अक्रम के बिना कहीं भी अर्थक्रिया की उपलब्धि नहीं होती और अर्थक्रिया की निवृत्ति होने पर वस्तुतत्त्व की व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि वस्तुतत्त्व की अर्थक्रिया के साथ व्याप्ति है।[6] इसलिये सर्वथा एकान्त में सत्तत्व की प्रतिष्ठा ही नहीं हो सकती।

---

6. वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया करना है। जो कुछ भी अर्थक्रिया नहीं करता है उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है। अर्थक्रिया दो प्रकार से होती है – क्रम से और युगपत्। जिसमें कुछ भी परिणमन नहीं होता है, चाहे वह क्षणिक हो या नित्य, उसमें न क्रम से अर्थक्रिया हो सकती है और न युगपत्। अर्थक्रिया के अभाव में सत्त्व का अभाव भी सुनिश्चित है। (देखें, **'आप्तमीमांसा – तत्त्वदीपिका'**, कारिका 99, पृ. 312)

शून्यवाद में उभय एकान्त रूप अवाच्य में उपेय-उपाय तत्त्व नहीं बनता-

उपेयतत्त्वाऽनभिलाप्यताव-
दुपायतत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात् ।
अशेषतत्त्वाऽनभिलाप्यतायां
द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः ॥२८॥

अन्वयार्थ - (हे वीर जिन!) **[भवद् युक्त्यभिलाप्यतायाः]** आपकी युक्ति की (स्याद्वाद नीति की) अभिलाप्यता के **[द्विषां]** जो द्वेषी हैं, उनके मत में) **[अशेष तत्त्वाऽनभिलाप्यतायां]** 'सम्पूर्ण तत्त्व अनभिलाप्य (अवाच्य) है', **[उपेय-तत्त्वाऽनभिलाप्यतावत्]** उपेय-तत्त्व की अनभिलाप्यता (अवाच्यता) के समान **[उपाय-तत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात्]** उपाय-तत्त्व भी सर्वथा अनभिलाप्य (अवाच्य) हो जाता है।

आपकी युक्ति की (स्याद्वाद नीति की) अभिलाप्यता के जो द्वेषी हैं अर्थात् आपके इस कथन से कि 'सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व स्वरूपादि-चतुष्टय (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा कथञ्चित सत्‌रूप ही है और पररूपादि-चतुष्टय (परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) की अपेक्षा कथञ्चित् असत्‌रूप ही है', द्वेष रखते हैं, उन द्वेषियों की इस मान्यता पर कि 'सम्पूर्ण तत्त्व अनभिलाप्य (अवाच्य) है'; उपेय-तत्त्व की अनभिलाप्यता (अवाच्यता) के समान उपाय-तत्त्व भी सर्वथा अनभिलाप्य (अवाच्य) हो जाता है। जिस प्रकार उपेय-तत्त्व निःश्रेयस (निर्वाण-मोक्ष) का कथन सर्वथा नहीं किया जा सकता उसी प्रकार उसकी प्राप्ति के उपायभूत निर्वाणमार्ग (उपाय-तत्त्व) का कथन भी सर्वथा नहीं किया जा सकता, क्योंकि दोनों में परस्पर तत्त्व-विषयक कोई विशेषता नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि जो लोग स्याद्वाद से बहिर्भूत हैं उनके यहाँ न उपेय-तत्त्व की सिद्धि बनती है और न उपाय-तत्त्व की सिद्धि बनती है; यानी उनके यहाँ न मोक्ष बन सकता है, न मोक्षमार्ग ही बन सकता है।

अवाच्य एकान्त का निराकरण-

अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावा-
दवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि
स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥२९॥

अन्वयार्थ - (सम्पूर्ण तत्त्व सर्वथा अवाच्य है ऐसी एकान्त मान्यता होने पर-) **[अवाच्यं एव]** 'तत्त्व अवाच्य ही है' **[इति]** ऐसा कहना **[अयथा प्रतिज्ञम्]** अयथा प्रतिज्ञ (प्रतिज्ञा के विरुद्ध) हो जाता है, क्योंकि **[अवाच्यं इति अत्र]** 'अवाच्य' इस पद में ही **[च वाच्य भावात्]** वाच्य का भाव है। **[चेत्]** यदि कहा जाये कि **[स्वरूपतः]** '(तत्त्व) स्वरूप से अवाच्य ही है' तो **[स्वरूपवाचीति]** 'सर्व वचन स्वरूपवाची है' यह कथन, और यदि कहा जाये कि '(तत्त्व) पररूप से अवाच्य ही है' तो **[पररूपवाचि इति]** 'सर्व वचन पररूपवाची है', इस प्रकार का कथन भी **[वचः विरुद्धम्]** प्रतिज्ञा के विरुद्ध ठहरता है।

सम्पूर्ण तत्त्व सर्वथा अवाच्य है,[1] ऐसी एकान्त मान्यता होने पर 'तत्त्व अवाच्य ही है', ऐसा कहना प्रतिज्ञा के विरुद्ध हो जाता है; क्योंकि 'अवाच्य' इस पद में ही वाच्य का भाव है, वह किसी बात को बतलाता है और तब तत्त्व सर्वथा अवाच्य न रहा।

यदि कहा जाये कि तत्त्व स्वरूप से अवाच्य ही है, तो 'सर्व वचन स्वरूपवाची है' यह कथन प्रतिज्ञा के विरुद्ध पड़ता है और यदि कहा जाये कि तत्त्व पररूप से अवाच्य ही है तो

---

1. माध्यमिक (शून्यवाद बौद्ध दर्शन का भेद) आचार्यों के ग्रन्थों के अवलोकन से शून्य का वास्तविक तात्पर्य तत्त्व की 'अवाच्यता' से है। किसी भी पदार्थ के स्वरूप निर्णय के लिए मुख्यरूप से चार कोटियों का प्रयोग किया जा सकता है - अस्ति, नास्ति, उभय और अनुभय। उनके अनुसार परमार्थ तत्त्व का इन चार प्रकार की कोटियों द्वारा वर्णन या कथन नहीं किया जा सकता है। अतः परमार्थ तत्त्व चार कोटियों से रहित अर्थात् अवाच्य है। (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 3, पृ. 49-50)

'सर्व वचन पररूपवाची है' यह कथन प्रतिज्ञा के विरुद्ध ठहरता है, अर्थात् वचन स्वार्थ का प्रतिपादन न कर पाने से प्रतिज्ञा की प्रतिपत्ति (ज्ञान) ही नहीं करा पाएगा।

इस तरह तत्त्व न तो भावमात्र है, न अभावमात्र है, न उभयमात्र है, और न सर्वथा अवाच्य है। इन चारों मिथ्याप्रवादों का यहाँ तक निरसन किया गया है। इसी निरसन के सामर्थ्य से सदवाच्यादि (सत् अवाच्यादि) शेष मिथ्याप्रवादों का भी निरसन हो जाता है अर्थात् न्याय की समानता से यह फलित होता है कि न तो सर्वथा सदवाच्य (सत् अवाच्य) तत्त्व है, न असदवाच्य (असत् अवाच्य), न उभयाऽवाच्य (उभय अवाच्य) और न अनुभयाऽवाच्य (अनुभय अवाच्य)।

सर्वथा एकान्त वचनों से वस्तु की सिद्धि नहीं होती-

सत्याऽनृतं वाऽप्यनृताऽनृतं वा-
ऽप्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन?
युक्तं प्रतिद्वन्द्व्यनुबन्धिमिश्रं
न वस्तु तादृक् त्वदृते जिनेदृक् ॥३०॥

अन्वयार्थ - [**सत्याऽनृतं वा अपि**] कोई वचन सत्याऽनृत (सत्य-असत्य) ही है, [**अनृताऽनृतं वा अपि**] दूसरा कोई वचन अनृताऽनृत (असत्य-असत्य) ही है और ये क्रमशः [**प्रतिद्वन्द्वि-अनुबन्धिमिश्रं**] प्रतिद्वन्द्वी से मिश्र और अनुबन्धि से मिश्र हैं। [**इह**] इस प्रकार [**जिन**] हे वीर जिन! [**त्वद् ऋते**] आप (स्याद्वादी) के बिना [**वस्तु अतिशायनेन**] वस्तु के अतिशायन (उत्कृष्टता) से प्रवर्तमान (प्रबोधक, बोध कराने वाला) [**ईदृक्**] जो वचन है [**किं**] क्या [**युक्तं अस्ति**] वह युक्त है? युक्त नहीं है। [**न वस्तु तादृक्**] क्योंकि स्याद्वाद से शून्य उस प्रकार का वस्तु-स्वरूप वास्तविक नहीं है।

कोई वचन सत्याऽनृत ही है, जैसे- 'शाखा पर चन्द्रमा को देखो', यह वचन प्रतिद्वन्द्वी से मिश्र है। यहाँ सत्य का प्रतिद्वन्द्वी अनृत (असत्य) है; इस वाक्य में 'चन्द्रमा को देखो' तो सत्य है, और 'शाखा पर' यह वचन विसंवादी होने से असत्य है। दूसरा कोई वचन अनृताऽनृत ही है, जैसे- 'पर्वत पर चन्द्रयुगल को देखो', यह वचन अनुबन्धि से मिश्र है, अर्थात् एक असत्य का दूसरे असत्य से मिश्रण। इसमें 'चन्द्रयुगल को देखो' वचन जिस तरह असत्य है, उसी तरह 'पर्वत पर देखो' यह वचन भी विसंवादी ज्ञानपूर्वक होने से असत्य है।

इस प्रकार, हे वीर जिन! आप स्याद्वादी के बिना वस्तु के अतिशायन (उत्कृष्टता) से (सर्वथा प्रकार से अभिधेय के निर्देश द्वारा प्रवर्तमान) जो वचन है, क्या वह युक्त है? अर्थात् युक्त नहीं है, क्योंकि स्याद्वाद से शून्य, उस प्रकार का अनेकान्त, वस्तु-स्वरूप वास्तविक नहीं है; वह सर्वथा एकान्त है और सर्वथा एकान्त अवस्तु होता है।

अनृत (असत्य) में भेद विशेषण की अपेक्षा से होते हैं, वे एकान्तरूप नहीं हैं-

सहक्रमाद्वा विषयाऽल्पभूरि-
भेदेऽनृतं भेदि न चाऽऽत्मभेदात् ।
आत्मान्तरं स्याद्भिदुरं समं च
स्याच्चाऽनृतात्माऽनभिलाप्यता च ॥३१॥

अन्वयार्थ - [**सहक्रमात् वा**] युगपत् और क्रम की अपेक्षा से [**विषयाऽल्पभूरिभेदे**] विषय (अभिधेय) के अल्प और अधिक (अल्पाऽनल्प) भेद होने पर [**अनृतं**] असत्य [**भेदि**] भेद वाला होता है, [**न च आत्मभेदात्**] आत्मभेद से नहीं। [**आत्मान्तरं**] जो सत्य आत्मान्तर (आत्मविशेष लक्षण) है वह [**भिदुरं समं च स्यात्**] भेद स्वभाव और अभेद स्वभाव वाला है, [**अनृतात्मा च**] इसके अलावा अनृतात्मा (असत्यात्मा) और ('च' शब्द से) उभय स्वभाव को लिये हुए है। [**अनभिलाप्यता**] अनभिलाप्यता (अवाच्यता) को [**स्यात् च**] प्राप्त है; और (द्वितीय 'च' शब्द के प्रयोग से) किञ्चित् भेद-अवाच्य, किञ्चित् अभेद-अवाच्य और किञ्चित् उभय-अवाच्य (भेद-अभेद-अवाच्य) भी है।

पूर्व श्लोक में जो अनृत (असत्य) की व्याख्या की गई है वह किञ्चित् (स्वयं के स्वरूप में) अनृत (असत्य) भी सत्य होता है, किञ्चित् सत्य भी अनृत (असत्य) होता है, किञ्चित् अनृत (असत्य) अनृत (असत्य) ही होता है; इस प्रकार अनृत के भेद होते हैं। इसी को सप्तभंगी के द्वारा प्ररूपित करते हैं।

असत्य के इस प्रकार के भेद वचन के द्वारा वाच्य (कहे जाने वाले) विषय (अभिधेय) में असत्यता की अल्पता (न्यूनता) एवं असत्यता की अधिकता के होने से होते हैं। जैसे- जिस वचन का अभिधेय अधिक सत्य और अल्प असत्य हो तो उसे सत्याऽनृत (सत्य-असत्य) कहते हैं. इसमें सत्य विशेषण से असत्य के सत्याऽनृत रूप भेद को प्रतिपादित किया गया है। जिस वचन का अभिधेय अधिक असत्य और अल्प सत्य हो तो

उसे अनृताऽनृत (असत्य-असत्य) कहते हैं. इसमें असत्य विशेषण से असत्य के अनृताऽनृत रूप भेद को प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार असत्य (अनृत) स्यात् भेद-रूप है; यह सप्तभंगी का प्रथम भंग हुआ।

असत्य स्वयं में (आत्मभेद से) सत्य ही होता है (वचनात्मक होने से), अतः सामान्य से असत्य में कोई भेद नहीं होता। इस प्रकार असत्य स्यात् अभेद-रूप है; यह सप्तभंगी का दूसरा भंग हुआ।

आत्मान्तर (स्वरूप से भिन्न-विशेषण) के द्वारा ही असत्य भेद रूप होता है। वह विशेषण के भेद से भेद स्वभाव को लिये हुए है तथा विशेषण भेद के अभाव से अभेद (सम) स्वभाव को लिये हुए है एवं हेतुद्वय (विशेषण के होने पर और अभाव) के अर्पणा के क्रम से (अर्थात् प्रधानता या विवक्षा के क्रम से; 'च' शब्द से) उभय स्वभाव को लिये हुए है। इस प्रकार असत्य के स्यात् भेदाऽभेद रूप होने से सप्तभंगी का तीसरा भंग बनता है।

इसके अतिरिक्त युगपत् (एक साथ) दोनों धर्मों (विशेषण का होना और अभाव, दोनों एक साथ) का कहा जाना शक्य न होने के कारण अनृतात्मा अवक्तव्यता (अवाच्यता या अनभिलाप्यता) को प्राप्त है। इस प्रकार सप्तभंगी के चतुर्थ भंग के रूप में असत्य स्यात् अवाच्य है।

(द्वितीय 'च' शब्द से) अपने-अपने हेतु की अपेक्षा अनृतात्मा स्यात् भेद-अवाच्य (भेदि-अनभिलाप्यता), स्यात् अभेद-अवाच्य (अभेदि-अनभिलाप्यता) और स्यात् भेदाऽभेद-अवाच्य (भेदाऽभेदि अनभिलाप्यता) भी है। ये तीन सप्तभंगी के पंचम, षष्ठ और सप्तम भंग हुए।

इस तरह अनेकान्तदृष्टि से भेदाऽभेद की सप्तभंगी[1] को लिये हुए है।

---

1. देखें, श्लोक 45, पृ. 103

बौद्ध मत में चतु:कोटि की मान्यता का खण्डन-

न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेक-
मात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यम् ।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदात्
स्वप्नेऽपि नैतत् त्वदृषेः परेषाम् ॥३२॥

अन्वयार्थ - **[न सत् च]** तत्त्व न सन्मात्र (सर्वथा सत्‌रूप) है, **[न असत् च]** न असन्मात्र (सर्वथा असत्‌रूप-अभावरूप) है, क्योंकि **[न सर्वनिषेधगम्यम्]** परस्पर निरपेक्ष सत्तत्त्व और असत्तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता। इसी तरह (सत्-असत्, एक-अनेक आदि) सर्व धर्मों के निषेध का विषयभूत कोई **[एकम्]** एक **[आत्मान्तरं]** आत्मान्तर (परमब्रह्म) तत्त्व भी **[न दृष्टं]** नहीं देखा जाता। हाँ, **[विमिश्रं]** सत्वाऽसत्व से विमिश्र परस्पराऽपेक्षरूप तत्त्व जरूर **[दृष्टं]** देखा जाता है, **[तदुपाधिभेदात्]** और वह उपाधि के भेद से है। **[त्वद् ऋषेः]** आप ऋषिराज से भिन्न **[परेषां]** जो दूसरे सर्वथा सत् आदि एकान्तों के वादी हैं उनके **[एतत्]** यह वचन अथवा इस रूप तत्त्व **[स्वप्ने अपि]** स्वप्न में भी **[न]** सम्भव नहीं है।

तत्त्व न सन्मात्र (सर्वथा सत्‌रूप, सतेकान्त, सत्ताद्वैतरूप) है और न असन्मात्र (असतेकान्त, सर्वथा असत्‌रूप-अभावरूप) है, क्योंकि परस्पर निरपेक्ष सत्तत्त्व और असत्तत्त्व दिखाई नहीं पड़ता; किसी भी प्रमाण से उपलब्ध न होने के कारण उसका होना असम्भव है।[1] इसी तरह सत्-असत्, एक-अनेक आदि सर्व धर्मों के निषेध का विषयभूत कोई एक आत्मान्तर (परमब्रह्म) तत्त्व भी नहीं देखा जाता। उसका भी होना असम्भव है।[2]

---

1. किसी अपेक्षा से जो वस्तु सत् है, वही वस्तु अन्य अपेक्षा से असत् भी है।

2. ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि यह सम्पूर्ण विश्व एक परमब्रह्मस्वरूप ही है। जगत् में जो कुछ भी प्रतिभासित हो रहा है वह सब परमब्रह्म की पर्याय है। सभी वस्तुएँ सत् रूप हैं बस! इस सत् का जो प्रतिभास है वही परमब्रह्म है। (देखें, **'अष्टसहस्त्री'**, विशेषार्थ, पृ. 235)

हाँ, सत्वाऽसत्व से विमिश्र परस्पराऽपेक्षरूप तत्त्व[3] जरूर देखा जाता है। वह उपाधि (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप विशेषणों)[4] के भेद से है।

इस प्रकार से सम्पूर्ण तत्त्व-

स्यात् (कथञ्चित्) सत्रूप ही है, स्वरूपादि चतुष्टय[5] की अपेक्षा से;

स्यात् (कथञ्चित्) असत्रूप ही है, पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से;

स्यात् (कथञ्चित्) उभयरूप ही है, स्व-पररूपादि चतुष्टयद्वय के क्रमार्पण (क्रमशः प्रधानता) की अपेक्षा से;

स्यात् (कथञ्चित्) अवाच्यरूप ही है, स्व-पररूपादि चतुष्टयद्वय के सहार्पण (युगपत् अथवा एक-साथ प्रधानता) की अपेक्षा से;

स्यात् (कथञ्चित्) सदवाच्यरूप (सत् अवाच्यरूप) ही है, स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा तथा स्व-पररूपादि चतुष्टयों के युगपत् कथन की अशक्ति की अपेक्षा से;

स्यात् (कथञ्चित्) असदवाच्यरूप ही है, पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा तथा स्व-पररूपादि चतुष्टयों के युगपत् कथन की अशक्ति की अपेक्षा से; और

स्यात् (कथञ्चित्) सदसदवाच्यरूप ही है, क्रमार्पित स्व-पररूपादि चतुष्टय-द्वय की अपेक्षा तथा सहार्पित उक्त चतुष्टय-द्वय की अपेक्षा से।

इस तरह तत्त्व सत्, असत् आदिरूप विमिश्रित देखा जाता है और इसलिये, हे वीर जिन! वस्तु के अतिशायन से (सर्वथा निर्देश द्वारा) किञ्चित् सत्याऽनृतरूप वचन आपके ही युक्त हैं। आप ऋषिराज से भिन्न जो दूसरे सर्वथा सत् आदि एकान्तों के वादी हैं उनके यह वचन अथवा इस रूप तत्त्व स्वप्न में भी सम्भव नहीं है।

(पृ. 64 पर दिया गया फुटनोट भी देखें।)

---

3. जिस समय पदार्थ के दोनों धर्मों (सत् एवं असत्) का क्रमशः प्रधान रूप से कथन किया जाता है, उस समय पदार्थ उभयात्मक सिद्ध होता है। (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 14, पृ. 152-153)

4. तत्त्व (वस्तु) का सत्, असत् आदि स्वरूप स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव विशेषणों के भेद (उपाधि के भेद) से निरूपित किया जाता है।

5. चतुष्टय अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव।

बौद्ध मतानुसार मान्य निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष का निरसन-

प्रत्यक्ष निर्देशवदप्यसिद्ध-
मकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम् ।
विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो
न तावकद्वेषिणि वीर! सत्यम् ॥३३॥

अन्वयार्थ - [**प्रत्यक्षनिर्देशवद्**] जो प्रत्यक्ष के द्वारा निर्देश को प्राप्त हो, ऐसा तत्त्व [**अपि असिद्धं**] भी असिद्ध है, क्योंकि जो [**अकल्पकं**] प्रत्यक्ष निर्विकल्पक (अकल्पक) है वह [**ज्ञापयितुं हि अशक्यम्**] दूसरों को तत्त्व के बतलाने-दिखलाने में किसी तरह भी समर्थ नहीं होता है। इसके सिवाय [**सिद्धेः विना च**] प्रत्यक्ष की सिद्धि के बिना [**लक्षणार्थः च न**] उसका लक्षणार्थ भी नहीं बन सकता है। [**वीर**] अतः, हे वीर जिन! [**तावकद्वेषिणि**] आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-शासन का जो द्वेषी है उसमें [**सत्यम् न**] सत्य घटित नहीं होता।

बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) मानते हैं। यदि यह कहा जाये कि निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष निरंश वस्तु का प्रतिभासी ही है, धर्मी-धर्मात्मकरूप जो सांश वस्तु है उसका प्रतिभासी नहीं; उसका प्रतिभासी वह सविकल्पक ज्ञान है जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के अनन्तर उत्पन्न होता है, क्योंकि उसी से यह धर्मी है, यह धर्म है ऐसे धर्मी-धर्म व्यवहार की प्रवृत्ति पाई जाती है। अतः सकल कल्पनाओं से रहित प्रत्यक्ष के द्वारा निरंश स्वलक्षण का जो अदर्शन बतलाया जाता है वह असिद्ध है, तब ऐसे असिद्ध अदर्शन साधन से उस निरंश वस्तु का अभाव कैसे सिद्ध किया जा सकता है?[1] तो इस बौद्ध प्रश्न का उत्तर यह है कि-

---

1. बौद्ध कल्पनापोढ-निर्विकल्पक और अभ्रान्त-भ्रान्तिरहित ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हैं। उनका कहना है कि यहाँ प्रत्यक्ष के लक्षण में 'कल्पनापोढ' पद से सविकल्प की और 'अभ्रान्त' पद से मिथ्या ज्ञानों की व्यावृत्ति की गयी है। फलितार्थ यह हुआ कि जो समीचीन-निर्विकल्पक ज्ञान है वह प्रत्यक्ष है। (देखें, **'न्यायदीपिका'**, पृ. 39)

जो प्रत्यक्ष के द्वारा निर्देश को प्राप्त हो (निर्दिष्ट होने वाला हो), प्रत्यक्ष ज्ञान से देखकर 'यह नीलादिक है' इस प्रकार के वचन बिना ही अंगुली से जिसका प्रदर्शन किया जाता हो, ऐसा तत्त्व भी असिद्ध है, क्योंकि जो प्रत्यक्ष अकल्पक है (सभी कल्पनाओं से रहित निर्विकल्प है) वह दूसरों को (संशयित-विनेयों अथवा संदिग्ध-व्यक्तियों को) तत्त्व के बतलाने-दिखलाने में किसी तरह भी समर्थ नहीं होता है। निर्विकल्प-प्रत्यक्ष भी असिद्ध है क्योंकि किसी भी प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान) के द्वारा उसका ज्ञापन अशक्य है। प्रत्यक्ष-प्रमाण से तो वह इसलिये ज्ञापित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह परप्रत्यक्ष के द्वारा असंवेद्य है। और अनुमान-प्रमाण के द्वारा भी उसका ज्ञापन नहीं बनता, क्योंकि उस प्रत्यक्ष के साथ अविनाभावी लिंग (साधन) का ज्ञान असंभव है; दूसरे लोग जिन्हें लिंग-लिंगी के सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हुआ उन्हें अनुमान के द्वारा उसे कैसे बतलाया जा सकता है? नहीं बतलाया जा सकता। और जो स्वयं प्रतिपन्न है अर्थात् निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष तथा उसके अविनाभावी लिंग को जानता है, उसके निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष का ज्ञापन कराने के लिये अनुमान निरर्थक है। समारोपादि[2] की - भ्रमोत्पत्ति और अनुमान के द्वारा उसके व्यवच्छेद की - बात कहकर उसे सार्थक सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि साध्य-साधन के सम्बन्ध से जो स्वयं अभिज्ञ है उसके तो समारोप का होना ही असंभव है और जो अभिज्ञ नहीं है उसके साध्य-साधन सम्बन्ध का ग्रहण ही संभव नहीं है और इसलिये गृहीत की विस्मृति जैसी कोई बात नहीं बन सकती। इस तरह अकल्पक प्रत्यक्ष का कोई ज्ञापक न होने से उसकी व्यवस्था नहीं बनती; तब उसकी सिद्धि कैसे हो सकती है? जब उसकी ही सिद्धि नहीं तब उसके द्वारा निर्दिष्ट होने वाले निरंश वस्तु-तत्त्व की सिद्धि कैसे बन सकती है? नहीं बन सकती। अतः दोनों ही असिद्ध ठहरते हैं।

प्रत्यक्ष की सिद्धि के बिना उसका लक्षणार्थ भी नहीं बन सकता - 'जो ज्ञान कल्पना से रहित है वह प्रत्यक्ष है' ('प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्', 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्') ऐसा बौद्धों के द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यक्ष-लक्षण का जो अर्थ-प्रत्यक्ष का बोध कराना है वह भी घटित नहीं हो सकता। (देखें, **'प्रमेयरत्नमाला'**, सूत्र 23, पृ. 128)

अतः, हे वीर जिन! आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वाद-शासन का जो द्वेषी है, सर्वथा सत् आदिरूप एकान्तवाद है, उसमें सत्य घटित नहीं होता; एकान्ततः सत्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता।

---

2. समारोप - संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को समारोप कहते हैं। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, पृ. 10)

शून्यैकान्तवाद में शुभाशुभ कार्य एवं कर्ता आदि घटित नहीं होते-

कालान्तरस्थे क्षणिके ध्रुवे वा-
ऽपृथक् पृथक्त्वाऽवचनीयतायाम् ।
विकारहाने र्न च कर्तृकार्ये
वृथा श्रमोऽयं जिन! विद्विषां ते ॥३४॥

अन्वयार्थ - [**कालान्तरस्थे**] पदार्थ के कालान्तर स्थायी होने पर [**अपृथक् पृथक्त्वाऽवचनीय-तायाम्**] चाहे वह अभिन्न हो, भिन्न हो या अनिवर्चनीय हो, [**कर्तृकार्ये च न**] कर्ता और कार्य दोनों भी उसी प्रकार नहीं बन सकते जिस प्रकार कि [**क्षणिके ध्रुवे वा**] पदार्थ के सर्वथा क्षणिक (अनित्य) अथवा ध्रुव (नित्य) होने पर नहीं बनते, क्योंकि तब [**विकारहानेः**] विकार (परिवर्तन, रूपान्तरण) की हानि (निवृत्ति) होती है। अतः [**जिन**] हे वीर जिन! [**ते**] आपके [**विद्विषां**] द्वेषियों का [**अयम्**] यह [**श्रमः**] श्रम [**वृथा**] व्यर्थ है।

पदार्थ के कालान्तर स्थायी होने पर (जन्मकाल से अन्यकाल में ज्यों का त्यों अपरिणामी रूप से अवस्थित रहने पर) चाहे वह अभिन्न हो, भिन्न हो या अनिवर्चनीय हो, कर्ता और कार्य दोनों भी उसी प्रकार नहीं बन सकते जिस प्रकार कि पदार्थ के सर्वथा क्षणिक (अनित्य) अथवा ध्रुव (नित्य) होने पर नहीं बनते, क्योंकि तब विकार (परिवर्तन, रूपान्तरण) की हानि (निवृत्ति) होती है। विकार परिणाम को कहते हैं, जो स्वयं अवस्थित द्रव्य के पूर्वाकार के परित्याग, स्वरूप के अत्याग और उत्तरोत्तराकार के उत्पादरूप होता है। विकार की हानि (निवृत्ति), क्रम और अक्रम को निवृत्त करती है, क्योंकि क्रम-अक्रम की विकार के साथ व्याप्ति (अविनाभाव सम्बन्ध की प्राप्ति) है। क्रम-अक्रम की निवृत्ति क्रिया को निवृत्त करती है, क्योंकि क्रिया के साथ उसकी व्याप्ति है। क्रिया का अभाव होने पर कोई कर्ता नहीं बनता, क्योंकि क्रियाधिष्ठ (क्रिया सहित) स्वतन्त्र द्रव्य के ही कर्तृत्व की सिद्धि होती है और कर्ता के अभाव में कार्य नहीं बन सकता; स्वयं समीहित स्वर्गाऽपवर्गादिरूप (स्वयं के लिए अभीष्ट स्वर्ग और मोक्ष रूप)

किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः हे वीर जिन! आपके द्वेषियों – आपके अनेकान्तात्मक स्याद्वाद–शासन से द्वेष रखने वालों (बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य आदि) – का यह श्रम, स्वर्गाऽपवर्गादि की प्राप्ति के लिये किया गया यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि लक्षणरूप योग, सम्पूर्ण दृश्यमान तप लक्षणरूप प्रयास व्यर्थ हैं। उससे सिद्धान्ततः कुछ भी साध्य की सिद्धि नहीं बन सकती।

यहाँ तक के इस सब कथन द्वारा आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अन्य सब प्रधान मतों को सदोष सिद्ध करके 'समन्तदोषं मतमन्यदीयम्' (आपके मत से अन्यों का मत मब प्रकार से दोषरूप है) इस आठवीं कारिकागत अपने वाक्य को समर्थित किया है। साथ ही, 'त्वदीयं मतमद्वितीयम्' (आपका मत – शासन – अद्वितीय है) इस छठी कारिकागत अपने मन्तव्य को प्रकाशित किया है और इन दोनों के द्वारा 'आप ब्रह्मपथ (आत्मविकास पद्धति अर्थात् मोक्षमार्ग) के नेता हैं, महान् हैं और इस प्रकार इतना ही आपके प्रति कहने के लिए हम समर्थ हैं', इस चतुर्थ कारिकागत अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध किया है।

पंचम परिच्छेद (३५-३९)

चार्वाक (वार्हस्पतिक लोकायतिक) दर्शन एवं मीमांसक की मान्यताओं का खण्डन

चार्वाक मत की मान्यतायें भोले प्राणियों को ठगने वाली हैं-

मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः
शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः ।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टै-
र्निर्ह्रीभयैर्हा! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥

अन्वयार्थ - [**मद्याङ्गवत् भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिः**] जिस प्रकार मद्य के अंगभूत - पिष्ठोदक, गुड़, धातकी आदि - के समागम (समुदाय) होने पर मदशक्ति की उत्पत्ति अथवा आर्विभूति होती है, उसी तरह भूतों के (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तत्त्वों के) समागम पर चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है; और यह सब शक्तिविशेष की अभिव्यक्ति है, कोई [**अदैवसृष्टिः**] दैव सृष्टि नहीं है। [**इति**] इस प्रकार (यह जिनका सिद्धान्त है) उन [**आत्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैः**] अपने शिश्न (लिंग) तथा उदर की पुष्टि में ही संतुष्ट रहने वाले [**निर्ह्रीभयैः**] निर्लज्जों और निर्भयों के द्वारा [**हा**] हा! खेद है कि [**मृदवः**] कोमल-बुद्धि (भोले-प्राणी) [**प्रलब्धाः**] ठगे गये हैं।

जिस प्रकार मद्य के अंगभूत - पिष्ठोदक, गुड़, धातकी आदि - के समागम होने पर मदशक्ति की उत्पत्ति अथवा आर्विभूति होती है, उसी तरह भूतों के (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तत्त्वों के) समागम पर चैतन्य उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होता है। वह कोई भिन्न तत्त्व नहीं है, उन्हीं का सुख-दुःख-हर्ष-विषाद-विवर्त्तात्मक स्वाभाविक परिणाम-विशेष है। और यह सब शक्तिविशेष की अभिव्यक्ति है, कोई दैव सृष्टि नहीं है। इस प्रकार यह

जिनका (कार्यवादी अविद्धकर्णादि तथा अभिव्यक्तिवादी पुरन्दरादि चार्वाकों का) सिद्धान्त है, उन अपने शिश्न (लिंग) तथा उदर की पुष्टि में ही संतुष्ट रहने वाले निर्लज्जों और निर्भयों के द्वारा खेद है कि कोमल-बुद्धि (भोले-प्राणी) ठगे गये हैं।

यहाँ स्वामी समन्तभद्र ने उन चार्वाकों की प्रवृत्ति पर भारी खेद व्यक्त किया है जो अपने लिंग तथा उदर की पुष्ठि में ही सन्तुष्ट रहते हैं, उसी को सब कुछ समझते हैं। जो मांस खाने, मदिरा पीने तथा जिस किसी से भी कामसेवन करने में कोई दोष नहीं देखते, जिनकी दृष्टि में पुण्य-पाप और उनके कारण शुभ-अशुभ कर्म कोई चीज नहीं, जो परलोक को नहीं मानते, जीव को भी नहीं मानते और अपरिपक्व बुद्धि वाले भोले जीवों को यह कह कर ठगते हैं कि- "जानने वाला जीव कोई जुदा पदार्थ नहीं है; पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार मूल तत्त्व अथवा भूत पदार्थ हैं, इनके संयोग से शरीर-इन्द्रिय तथा विषय-संज्ञा की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है और इन शरीर-इन्द्रिय तथा विषय-संज्ञा से चैतन्य उत्पन्न तथा अभिव्यक्त होता है। इस तरह ये चारों भूत चैतन्य के परम्परा कारण हैं और शरीर-इन्द्रिय तथा विषय-संज्ञा ये तीनों एक साथ उसके साक्षात् कारण हैं। यह चैतन्य गर्भ से मरण-पर्यन्त रहता है और उन पृथिवी आदि चारों भूतों का उसी प्रकार शक्तिविशेष है जिस प्रकार कि मद्य के अंगभूत पदार्थों का (आटा मिला जल, गुड़ और धातकी आदि का) शक्तिविशेष मद (नशा) है और जिस प्रकार मद को उत्पन्न करने वाले शक्तिविशेष की व्यक्ति कोई दैवकृत सृष्टि नहीं देखी जाती बल्कि मद्य के अंगभूत असाधारण और साधारण पदार्थों का समागम होने पर स्वभाव से ही वह होती है उसी प्रकार ज्ञान के हेतुभूत शक्तिविशेष की व्यक्ति भी किसी दैव सृष्टि का परिणाम नहीं है बल्कि ज्ञान के कारण जो असाधारण और साधारण भूत (पदार्थ) हैं उनके समागम पर स्वभाव से ही वह होती है। अथवा हरीतकी (हरड़) आदि में जिस प्रकार विरेचन (जुलाब) की शक्ति स्वाभाविकी है, किसी देवता को प्राप्त होकर हरीतकी विरेचन नहीं करती है, उसी प्रकार उन चारों भूतों में भी चैतन्यशक्ति स्वाभाविकी है। हरीतकी यदि कभी और किसी को विरेचन नहीं करती है तो उसका कारण या तो हरीतकी आदि योग (मिश्रण) के पुराना हो जाने के कारण उसकी शक्ति का जीर्ण-शीर्ण हो जाना होता है और या उपयोग करने वाले को शक्तिविशेष की अप्रतीति उसका कारण होती है। यही बात चारों भूतों का समागम होने पर भी कभी और कहीं चैतन्यशक्ति की अभिव्यक्ति न होने के विषय में समझना चाहिये। इस तरह जब चैतन्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं और चारों भूतों की शक्तिविशेष के रूप में जिस चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है वह मरणपर्यन्त ही रहता है (शरीर के साथ उसकी भी समाप्ति हो जाती है) तब परलोक में जाने वाला कोई नहीं बनता। परलोकी के अभाव में

परलोक का भी अभाव ठहरता है, जिसके विषय में नरकादि का भय दिखलाया जाता है और स्वर्गादिक का प्रलोभन दिया जाता है और दैव (भाग्य) का अभाव होने से पुण्य-पाप कर्म तथा उनके साधन शुभ-अशुभ अनुष्ठान कोई चीज नहीं रहते, सब व्यर्थ ठहरते हैं; और इसलिये लोक-परलोक के भय तथा लज्जा को छोड़कर यथेष्ठ रूप में प्रवर्तना चाहिये अर्थात् जो जी में आये वह करना तथा खाना-पीना चाहिये। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि तपश्चरण तो नाना प्रकार की कोरी यातनाएँ हैं, संयम भोगों का वंचक (वंचित करने वाला) है और अग्निहोत्र तथा पूजादिक कर्म बच्चों के खेल हैं, इन सब में कुछ भी नहीं धरा है।"

इस प्रकार के ठगवचनों के द्वारा जो लोग भोले जीवों को ठगते हैं अर्थात् पाप और परलोक के भय को हृदयों से निकालकर तथा लोकलाज को भी समाप्त कर उनकी पाप में निरंकुश प्रवृत्ति कराते हैं, ऐसे लोगों को 'निर्लज्ज' और 'निर्भय' कहना उचित ही है। ऐसे लोग विवेक-शून्य होकर स्वयं विषयों में अन्धे हुए दूसरों को भी उन पापों में फँसाते हैं, उनका अध:पतन करते हैं और उसमें आनन्द मनाते हैं, जो कि एक बहुत ही निकृष्ट प्रवृत्ति है।

यहाँ भोले जीवों को ठगाये जाने की बात कहकर प्रकारान्तर से यह भी सूचित किया गया है कि जो प्रोढ़-बुद्धि के धारक विचारवान् मनुष्य हैं वे ऐसे ठग-वचनों के द्वारा कभी ठगाये नहीं जा सकते। वे जानते हैं कि परमार्थ से जो अनादि-निधन उपयोग-लक्षण चैतन्यस्वरूप आत्मा है वह प्रमाण से प्रसिद्ध है और पृथिव्यादि भूतों के समागम पर चैतन्य का सर्वथा उत्पन्न अथवा अभिव्यक्त होना व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता। क्योंकि शरीराकार-परिणत पृथिव्यादि भूतों के संगत, अविकल और अनुपहत वीर्य होने पर भी जिस चैतन्यशक्ति के वे अभिव्यंजक कहे जाते हैं उसे या तो पहले से सत् कहना होगा या असत् अथवा उभयरूप। इन तीन विकल्पों के सिवाय दूसरी कोई गति नहीं है। यदि अभिव्यक्त होने वाली चैतन्यशक्ति को पहले से सत्रूप (विद्यमान) माना जायेगा तो सर्वदा सत्रूप शक्ति की ही अभिव्यक्ति सिद्ध होने से चैतन्यशक्ति के अनादित्व और अनन्तत्व की सिद्धि ठहरेगी और उसके लिये यह अनुमान सुघटित होगा कि- 'चैतन्यशक्ति कथञ्चित् नित्य है, क्योंकि वह सत्रूप और अकारण है, जैसे कि पृथिवी आदि भूतसामान्य'। इस अनुमान में 'सदकारणत्वात्' यह समुदित हेतु व्यभिचारी नहीं है क्योंकि यह विपक्ष में नहीं पाया जाता, विपक्ष में वृत्ति का अभाव होने से विरुद्ध भी नहीं है, हेतु की सत्ता होने से असिद्ध भी नहीं है और इसलिये चैतन्यशक्ति का अनादि-अनन्त अथवा कथञ्चित् नित्य सिद्ध करने में समर्थ है।

यदि यह कहा जाये कि पिष्ठोदकादि मद्यांगों से अभिव्यक्त होने वाली मदशक्ति पहले से

सत्‌रूप होते हुए भी नित्य नहीं मानी जाती और इसलिये उस सत् तथा अकारणरूप मदशक्ति के साथ हेतु का विरोध है, तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह मदशक्ति भी कथञ्चित् नित्य है और उसका कारण यह है कि चेतनद्रव्य के साथ ही मदशक्ति का स्वभावपना है, सर्वथा अचेतन-द्रव्यों में मदशक्ति का होना असम्भव है। इसी से द्रव्यमन और द्रव्येन्द्रियों के, जो कि अचेतन हैं, मदशक्ति नहीं बन सकती; भावमन और भावेन्द्रियों के ही, जो कि चेतनात्मक हैं, मदशक्ति की सम्भावना है। यदि अचेतन-द्रव्य भी मदशक्ति को प्राप्त होवे तो मद्य के पात्रों में भी मद अर्थात् नशा होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है। वस्तुत: चेतनद्रव्य में मदशक्ति की अभिव्यक्ति का बाह्य कारण मद्यादिक और अन्तरंग कारण मोहनीय कर्म का उदय है। मोहनीय कर्म के उदय बिना बाह्य में मद्यादि का संयोग होते हुए भी मदशक्ति की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। मुक्तात्माओं में दोनों कारणों का अभाव होने से मदशक्ति की अभिव्यक्ति नहीं बनती और इसलिये मदशक्ति के द्वारा उक्त 'सदकारणत्वात्' हेतु में व्यभिचार दोष घटित नहीं हो सकता, वह चैतन्यशक्ति का नित्यत्व सिद्ध करने में समर्थ है। चैतन्यशक्ति का नित्यत्व सिद्ध होने पर परलोकी और परलोक आदि सब सुघटित होते हैं। जो लोग परलोकी को नहीं मानते उन्हें यह नहीं कहना चाहिये कि 'पहले से सत्‌रूप में विद्यमान चैतन्यशक्ति अभिव्यक्त होती है'।

यदि यह कहा जाये कि अविद्यमान चैतन्यशक्ति अभिव्यक्त होती है तो यह प्रतीति के विरुद्ध है; क्योंकि जो सर्वथा असत् हो ऐसी किसी भी चीज की अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती। और यदि यह कहा जाये कि कथञ्चित सत्‌रूप तथा कथञ्चित असत्‌रूप शक्ति ही अभिव्यक्त होती है तो इससे परमत (स्याद्वाद-शासन) की सिद्धि होती है, क्योंकि स्याद्वादियों को उस चैतन्यशक्ति की कायाकार-परिणत-पुद्‌गलों के द्वारा अभिव्यक्ति अभीष्ट है जो दृव्यदृष्टि से सत्‌रूप होते हुए भी पर्यायदृष्टि से असत् बनी हुई है और इसलिये सर्वथा चैतन्य की अभिव्यक्ति प्रमाण-बाधित है; जो उसका जैसे-तैसे वंचक-वचनों के रूप में प्रतिपादन करते हैं उन चार्वाकों के द्वारा सुकुमारबुद्धि मनुष्य नि:संदेह ठगाये जाते हैं।

इसके सिवाय जिन चार्वाकों ने चैतन्यशक्ति को भूतसमागम का कार्य माना है उनके यहाँ सर्व चैतन्यशक्तियों में अविशेष का प्रसंग उपस्थित होता है अर्थात् किसी प्रकार का विशेष न रहने से प्रत्येक प्राणी में बुद्धि आदि का कोई विशेष (भेद) नहीं बनता और क्योंकि विशेष पाया जाता है अत: उनकी उक्त मान्यता सदोष एवं मिथ्या है। इसी बात को अगली कारिका में व्यक्त किया गया है।

भूतचतुष्टय से चैतन्य की उत्पत्ति की मान्यता का निरसन-

> **दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ**
> **विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्?**
> **स्वभावतः किं न परस्य सिद्धि-**
> **रतावकानामपि हा! प्रपातः? ॥३६॥**

अन्वयार्थ - [**जननादिहेतौ**] जब जननादिहेतु - चैतन्य की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति का कारण पृथिवी आदि भूतों का समुदाय - [**अविशिष्टे**] अविशिष्ट (सामान्य, बिना किसी विशेषता के) [**दृष्टे**] देखा जाता है [**प्रतिसत्त्वमेषाम्**] तब इनके (चार्वाकों के) मत में प्राणी-प्राणी के प्रति [**का विशिष्टता**] क्या विशेषता बन सकती है? (इस पर) [**स्वभावतः**] यदि उस विशिष्टता की सिद्धि स्वभाव से ही मानी जाये तो फिर [**परस्य सिद्धिः**] चारों भूतों से भिन्न पाँचवें आत्मतत्त्व की सिद्धि [**किं न**] स्वभाव से क्यों नहीं मानी जाये? [**अतावकानाम्**] इस तत्त्वान्तर-सिद्धि को न मानने वाले जो अतावक हैं - दर्शनमोह के उदय से आकुलित-चित्त हुए, आप वीर जिनेन्द्र के मत से बाह्य हैं - उनका (जीविकामात्र-तन्त्र-विचारकों का) [**अपि**] भी [**हा!**] हाय! यह कैसा [**प्रपातः**] प्रपतन हुआ है (जो उन्हें संसार-समुद्र के आवर्त में गिराने वाला है)!!

जब जननादिहेतु - चैतन्य की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति का कारण पृथिवी आदि भूतों का समुदाय, अविशिष्ट (सामान्य, बिना किसी विशेषता के) देखा जाता है, उसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती और दैवसृष्टि (भाग्यनिर्माणादि) को अस्वीकार किया जाता है, तब इन चार्वाकों के प्राणी-प्राणी के प्रति क्या विशेषता बन सकती है? कारण में विशिष्टता के न होने से भूत-समागम की और तज्जन्य अथवा तदभिव्यक्त चैतन्य की कोई भी विशिष्टता नहीं बन सकती; तब इस दृश्यमान बुद्ध्यादि चैतन्य के विशेष को किस आधार पर सिद्ध किया जायेगा? कोई भी आधार उसके लिये नहीं बनता।

(इस पर) यदि उस विशिष्टता की सिद्धि स्वभाव से ही मानी जाये तो फिर चारों भूतों से

भिन्न पाँचवें आत्मतत्त्व की सिद्धि स्वभाव से क्यों नहीं मानी जाये? उसमें क्या बाधा आती है और इसे न मानकर 'भूतों का कार्य चैतन्य' मानने से क्या प्रयोजन, जो किसी तरह भी सिद्ध नहीं हो सकता? क्योंकि यदि कायाकार परिणत भूतों का कार्य होने से चैतन्य की स्वभाव से सिद्धि है तो यह प्रश्न पैदा होता है कि पृथिवी आदि भूत उस चैतन्य के उपादान कारण हैं या सहकारी कारण? यदि उन्हें उपादान कारण माना जाये तो चैतन्य के भूतान्वित होने का प्रसंग आता है, अर्थात् जिस प्रकार सुवर्ण के उपादान होने पर मुकुट, कुण्डलादिक पर्यायों में सुवर्ण का अन्वय (वंश) चलता है तथा पृथिवी आदि के उपादान होने पर शरीर में पृथिवी आदि का अन्वय चलता है, उसी प्रकार भूतचतुष्टय के उपादान होने पर चैतन्य में भूतचतुष्टय का अन्वय चलना चाहिये, उन भूतों का लक्षण उसमें पाया जाना चाहिये क्योंकि **उपादान द्रव्य वही कहलाता है जो त्यक्ताऽत्यक्त-आत्मरूप हो, पूर्वाऽपूर्व के साथ वर्तमान हो और त्रिकालवर्ती जिसका विषय हो।**[1] परन्तु भूत-समुदाय ऐसा नहीं देखा जाता कि जो अपने पहले अचेतनाकार का त्याग करके चेतनाकार को ग्रहण करता हुआ भूतों के धारण-ईरण-द्रव-उष्णता-लक्षण स्वभाव से अन्वित (युक्त) हो क्योंकि चैतन्य धारणादि भूत-स्वभाव से रहित जानने में आता है और कोई भी पदार्थ अत्यन्त विजातीय कार्य करता हुआ प्रतीत नहीं होता। भूतों का धारणादि-स्वभाव और चैतन्य (जीव) का ज्ञान-दर्शनोपयोग-लक्षण दोनों एक दूसरे से अत्यन्त विलक्षण एवं विजातीय हैं। अतः अचेतनात्मक भूतचतुष्टय अत्यन्त विजातीय चैतन्य का उपादान कारण नहीं बन सकता – दोनों में उपादानोपादेयभाव सम्भव ही नहीं और यदि भूतचतुष्टय को चैतन्य की उत्पत्ति में सहकारी कारण माना जाये तो फिर उपादान कारण कोई और बतलाना होगा क्योंकि बिना उपादान के कोई भी कार्य सम्भव नहीं। जब दूसरा कोई उपादान कारण नहीं और उपादान तथा सहकारी कारण से भिन्न तीसरा भी कोई कारण ऐसा नहीं जिससे भूतचतुष्टय को चैतन्य का जनक स्वीकार किया जा सके, तब चैतन्य की स्वभाव से ही भूतविशेष की तरह तत्त्वान्तर के रूप में सिद्धि होती है। इस तत्त्वान्तर-सिद्धि को न मानने वाले जो अतावक हैं – दर्शनमोह के उदय से आकुलित-चित्त हुए, आप वीर जिनेन्द्र के मत से बाह्य हैं, उन जीविकामात्र-तन्त्र-विचारकों का भी यह कैसा प्रपतन हुआ है? यह प्रपतन उन्हें संसार-समुद्र के आवर्त में गिराने वाला है।

आचार्य जिनसेन कृत **'आदिपुराण'** में भूतवाद (चार्वाक), विज्ञानवाद और नैरात्म्यवाद

---

1. **त्यक्ताऽत्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वाऽपूर्वेण वर्तते ।**
   कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥ (**'युक्त्यनुशासनालङ्कारटीकया'**, पृ. 181)

(शून्यवाद) मतों के खण्डन का उत्तम वर्णन प्राप्त होता है। भूतवाद (चार्वाक) मत के खण्डन का वर्णन यहाँ उद्धृत किया जाता है।

राजा महाबल, जो कि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के दसवें पूर्वभव थे, अपने मन्त्रिमण्डल के साथ सभामण्डप में बैठे हुए थे। उनकी वह सभा चार महाबुद्धिमान् मन्त्रियों से सुशोभित थी – महामति, सम्भिन्नमति, शतमति और स्वयंबुद्ध। ये चारों ही मन्त्री राज्य के स्थिर मूलस्तम्भ के समान थे। उन चारों मन्त्रियों में स्वयंबुद्ध तो शुद्ध सम्यग्दृष्टि था और बाकी तीन मन्त्री मिथ्यादृष्टि थे।

सभा में चर्चा के समय महामति मन्त्री ने भूतवाद का आलम्बन ले कर चार्वाक मत का पोषण करते हुए जीवतत्त्व के विषय में दूषण दिये। उसके सभी तर्कों का स्वयंबुद्ध मन्त्री ने इस प्रकार से खण्डन किया– (देखें, **'आदिपुराण'**, पृ. 96–99)

"हे भूतवादिन, 'आत्मा नहीं है' यह आप मिथ्या कह रहे हैं क्योंकि पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के अतिरिक्त ज्ञान–दर्शनरूप चैतन्य की भी प्रतीति होती है। यह चैतन्य शरीररूप नहीं है और न शरीर चैतन्यरूप ही है, क्योंकि दोनों का परस्पर विरुद्ध स्वभाव है। चैतन्य चित्स्वरूप है, ज्ञान–दर्शनरूप है; और शरीर अचित्स्वरूप है, जड़ है। शरीर और चैतन्य दोनों मिलकर एक नहीं हो सकते क्योंकि दोनों में परस्पर विरोधी गुणों का योग पाया जाता है। चैतन्य का प्रतिभास तलवार के समान अंतरंगरूप होता है और शरीर का प्रतिभास म्यान के समान बहिरंगरूप होता है। भावार्थ– जिस प्रकार म्यान में तलवार रहती है। यहाँ म्यान और तलवार दोनों में अभेद नहीं होता उसी प्रकार 'शरीर में चैतन्य है' यहाँ शरीर और आत्मा में अभेद नहीं होता। प्रतिभास–भेद होने से दोनों ही पृथक्–पृथक् पदार्थ सिद्ध होते हैं। यह चैतन्य न तो पृथिवी आदि भूतचतुष्टय का कार्य है और न उनका कोई गुण ही है, क्योंकि दोनों की जातियाँ पृथक्–पृथक् हैं। एक चैतन्यरूप है तो दूसरा जड़रूप है। यथार्थ में कार्यकारणभाव और गुणगुणीभाव सजातीय पदार्थों में ही होता है, विजातीय पदार्थों में नहीं होता। इसके सिवाय एक कारण यह भी है कि पृथिवी आदि से बने हुए शरीर का ग्रहण उसके एक अंशरूप इन्द्रियों के द्वारा ही होता है जब कि ज्ञानरूप चैतन्य का स्वरूप अतीन्द्रिय है, ज्ञानमात्र से ही जाना जाता है। यदि चैतन्य पृथिवी आदि का कार्य अथवा स्वभाव होता तो पृथिवी आदि से निर्मित शरीर के साथ ही साथ इन्द्रियों द्वारा उसका भी ग्रहण अवश्य होता, परन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि शरीर और चैतन्य पृथक्–पृथक् पदार्थ हैं। यह चैतन्य शरीर का भी विकार नहीं हो सकता क्योंकि भस्म आदि जो शरीर के विकार हैं उनसे वह विसदृश होता है। यदि चैतन्य शरीर

का विकार होता तो उसके भस्म आदि विकाररूप ही चैतन्य होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध है कि चैतन्य शरीर का विकार नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि शरीर का विकार मूर्तिक होगा; यह चैतन्य अमूर्तिक है – रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से रहित है, इन्द्रियों–द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध ऐसा है जैसा कि घर और दीपक का होता है। आधार और आधेय रूप होने से घर और दीपक जिस प्रकार पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं उसी प्रकार शरीर और आत्मा भी पृथक् सिद्ध पदार्थ हैं। आपका सिद्धान्त है कि शरीर के प्रत्येक अंगोपांग की रचना पृथक्–पृथक् भूतचतुष्टय से होती है सो इस सिद्धान्त के अनुसार शरीर के प्रत्येक अंगोपांग में पृथक्–पृथक् चैतन्य होना चाहिये क्योंकि आपका मत है कि चैतन्य भूतचतुष्टय का ही कार्य है। परन्तु देखा इससे विपरीत जाता है। शरीर के सब अंगोपांगों में एक ही चैतन्य का प्रतिभास होता है, उसका कारण यह भी है कि जब शरीर के किसी एक अंग में कण्टकादि चुभ जाता है तब सारे शरीर में दु:ख का अनुभव होता है। इससे मालूम होता है कि सब अंगोपांगों में व्याप्त होकर रहने वाला चैतन्य यदि भूतचतुष्टय का कार्य होता तो वह भी प्रत्येक अंगों में पृथक्–पृथक् ही होता। इसके सिवाय इस बात का भी विचार करना चाहिये कि मूर्तिमान् शरीर से मूर्तिरहित चैतन्य की उत्पत्ति कैसे होगी? क्योंकि मूर्तिमान् और अमूर्तिमान् पदार्थों में कार्य–कारण भाव नहीं होता। कदाचित् आप यह कहें कि मूर्तिमान् पदार्थ से भी अमूर्तिमान् पदार्थ की उत्पत्ति हो सकती है, जैसे कि मूर्तिमान् इन्द्रियों से अमूर्तिमान् ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान को हम मूर्तिक ही मानते हैं। उसका कारण भी यह है कि आत्मा मूर्तिक कर्मों के साथ बन्ध को प्राप्त कर एकरूप हो गया है इसलिये कथञ्चित् मूर्तिक माना जाता है। जब कि आत्मा भी कथञ्चित् मूर्तिक माना जाता है तब इन्द्रियों से उत्पन्न हुए ज्ञान को भी मूर्तिक मानना उचित है। इससे सिद्ध हुआ कि मूर्तिक पदार्थों से अमूर्तिक पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती। इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टय में जो शरीर के आकार परिणमन हुआ है वह भी किसी अन्य निमित्त से हुआ है। यदि उस निमित्त पर विचार किया जाये तो कर्मसहित संसारी आत्मा को छोड़कर और दूसरा क्या निमित्त हो सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। भावार्थ– कर्मसहित संसारी आत्मा ही पृथिवी आदि को शरीररूप परिणमन करता है, इससे शरीर और आत्मा की सत्ता पृथक् सिद्ध होती है। यदि कहो कि जीव पहले नहीं था, शरीर के साथ ही उत्पन्न होता है और शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है इसलिये जल के बबूले के समान है, जैसे जल का बबूला जल में ही उत्पन्न होकर उसी में नष्ट हो जाता है वैसे ही यह जीव भी शरीर के साथ उत्पन्न होकर उसी के साथ नष्ट हो जाता है, सो आपका यह

मानना ठीक नहीं है क्योंकि शरीर और जीव दोनों ही विलक्षण-विसदृश पदार्थ हैं। विसदृश पदार्थ से विसदृश पदार्थ की उत्पत्ति किसी भी तरह नहीं हो सकती। आपका कहना है कि शरीर से चैतन्य की उत्पत्ति होती है - यहाँ हम पूछते हैं कि शरीर चैतन्य की उत्पत्ति में उपादान कारण है अथवा सहकारी कारण? उपादान कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि उपादेय-चैतन्य से शरीर विजातीय पदार्थ है। यदि सहकारी कारण मानो तो यह हमें भी इष्ट है परन्तु उपादान कारण की खोज फिर भी करनी चाहिये। कदाचित् यह कहो कि सूक्ष्मरूप से परिणत भूतचतुष्टय का समुदाय ही उपादान कारण है तो आपका यह कहना असत् है क्योंकि भूतचतुष्टय के संयोग द्वारा उत्पन्न हुए शरीर से वह चैतन्य पृथक् ही प्रतिभासित होता है। इसलिये जीवद्रव्य को ही चैतन्य का उपादान कारण मानना ठीक है क्योंकि वही उसका सजातीय और सलक्षण है। भूतवादी ने जो पुष्प, गुड़, पानी आदि के मिलने से मदशक्ति के उत्पन्न होने का दृष्टान्त दिया है, उपर्युक्त कथन से उसका भी निराकरण हो जाता है क्योंकि मदिरा के कारण जो गुड़ आदि हैं वे जड़ और मूर्तिक हैं तथा उनसे जो मादक शक्ति उत्पन्न होती है वह भी जड़ और मूर्तिक है। भावार्थ- मादक शक्ति का उदाहरण विषम है। क्योंकि प्रकृत में आप सिद्ध करना चाहते हैं विजातीय द्रव्य से विजातीय की उत्पत्ति और उदाहरण दे रहे हैं सजातीय द्रव्य से सजातीय की उत्पत्ति का। वास्तव में भूतवादी चार्वाक भूत-पिशाचों से ग्रसित हुआ जान पड़ता है। यदि ऐसा नहीं होता तो इस संसार को जीवरहित केवल पृथिवी, जल, तेज, वायुरूप ही कैसे कहता? कदाचित् भूतवादी यह कहे कि पृथिवी आदि भूतचतुष्टय में चैतन्यशक्ति अव्यक्तरूप से पहले से ही रहती है सो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अचेतन पदार्थ में चैतन्यशक्ति नहीं पाई जाती, यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस उपर्युक्त कथन से सिद्ध हुआ कि जीव कोई भिन्न पदार्थ है और ज्ञान उसका लक्षण है। जैसे इस वर्तमान शरीर में जीव का अस्तित्व है उसी प्रकार पिछले और आगे के शरीर में भी उसका अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि जीवों का वर्तमान शरीर पिछले शरीर के बिना नहीं हो सकता। उसका कारण यह है कि वर्तमान शरीर में स्थित आत्मा में जो दुग्धपानादि क्रियाएँ देखी जाती हैं वे पूर्वभव का संस्कार ही हैं। यदि वर्तमान शरीर के पहले इस जीव का कोई शरीर नहीं होता और वह नवीन ही उत्पन्न हुआ होता तो जीव की सहसा दुग्धपानादि में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार वर्तमान शरीर के बाद भी यह जीव कोई-न-कोई शरीर धारण करेगा, क्योंकि ऐन्द्रियिक ज्ञानसहित आत्मा बिना शरीर के रह नहीं सकता। जहाँ यह जीव अपने अगले-पिछले शरीरों से युक्त होता है वहीं उसका परलोक कहलाता है और उन शरीरों में रहने वाला आत्मा परलोकी कहा जाता है तथा वही परलोकी आत्मा परलोक सम्बन्धी पुण्य-पापों के

फल को भोगता है। इसके सिवाय, जातिस्मरण से, जीवन-मरणरूप आवागमन से और आप्त-प्रणीत आगम से भी जीव का पृथक् अस्तित्व सिद्ध होता है। जिस प्रकार किसी यन्त्र में जो हलन-चलन होता है वह किसी अन्य चालक की प्रेरणा से होता है, इसी प्रकार इस शरीर में भी जो यातायातरूपी हलन-चलन हो रहा है वह भी किसी अन्य चालक की प्रेरणा से ही हो रहा है; वह चालक आत्मा ही है। इसके सिवाय शरीर की जो चेष्टाएँ होती हैं सो हित-अहित के विचारपूर्वक होती हैं, इससे भी जीव का अस्तित्व पृथक् जाना जाता है। यदि आपके कहे अनुसार पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के संयोग से जीव उत्पन्न होता है तो भोजन पकाने के लिए आग पर रखी हुई बटलोई में भी जीव की उत्पत्ति हो जानी चाहिये क्योंकि वहाँ भी तो अग्नि, पानी, वायु और पृथिवी रूप भूतचतुष्टय का संयोग होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भूतवादियों के मत में अनेक दूषण हैं, इसलिये यह निश्चय समझिए कि भूतवादियों का प्रलाप निरे मूर्खों का प्रलाप है, उसमें कुछ भी सार नहीं है।"

चार्वाक मत एवं मीमांसक से स्वच्छन्द वृत्ति की पुष्टि होती है-

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावा-
दुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमाना-
स्त्वद्दृष्टिबाह्या बत! विभ्रमन्ति ॥३७॥

अन्वयार्थ - [**स्वभावात्**] स्वभाव से ही [**जगतः**] जगत् की [**स्वच्छन्दवृत्तेः**] स्वच्छन्द-वृत्ति है, इसलिये जगत् के [**उच्चैः**] ऊँचे दर्जे के [**अनाचारपथेषु**] अनाचार-मार्गों में [हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रह नाम के पाँच महापापों में] भी [**अदोषं**] कोई दोष नहीं है, ऐसी [**निर्घुष्य**] घोषणा करके [**दीक्षासममुक्तिमानाः**] दीक्षा के समकाल ही मुक्ति को मानकर जो अभिमानी हो रहे हैं, वे सब, हे वीर जिन! [**त्वद्-दृष्टि-बाह्याः**] आपकी दृष्टि से (बन्ध, मोक्ष और तत्कारण-निश्चय के निबन्धनस्वरूप आपके स्याद्वाद दर्शन से) बाह्य हैं और [**विभ्रमन्ति**] केवल विभ्रम में पड़े हुए हैं; [**बत!**] यह बड़े ही खेद अथवा कष्ट का विषय है!

स्वभाव से ही जगत् की स्वच्छन्द-वृत्ति (यथेच्छ प्रवृत्ति) है, इसलिये जगत् के ऊँचे दर्जे के अनाचार-मार्गों में, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रह नाम के पाँच महापापों में, भी कोई दोष नहीं है, ऐसी घोषणा करके - उनके अनुष्ठान जैसी सदोष प्रवृत्ति को निर्दोष बतलाकर - लोग दीक्षा के समकाल ही मुक्ति को मानकर अभिमानी हो रहे हैं। वे लोग सहजग्राह्य-हृदय में मन्त्रविशेषारोपण के समय ही मुक्ति हो जाने का अभिमान करते हैं; अथवा दीक्षा का निरास जैसे बने वैसे (दीक्षानुष्ठान का निवारण करने के लिये) मुक्ति को अमान्य कर रहे हैं (-मीमांसक) और मांस-भक्षण, मदिरापान तथा मैथुनसेवन जैसे अनाचार के मार्गों के विषय में स्वभाव से ही जगत् की स्वच्छन्द-प्रवृत्ति को हेतु बताकर घोषणा कर रहे हैं कि उसमें कोई दोष नहीं है। वे सब, हे वीर जिन! आपकी दृष्टि से - बन्ध, मोक्ष और तत्कारण-निश्चय के निबन्धनस्वरूप आपके स्याद्वाद

दर्शन से – बाह्य हैं और सर्वथा एकान्तवादी होने से केवल विभ्रम में पड़े हुए हैं। वे तत्त्व के निश्चय को कभी प्राप्त नहीं होते; यह बड़े ही खेद का विषय है!

इस कारिका में 'दीक्षासममुक्तिमाना:' पद दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। एक अर्थ में उन मन्त्रवादियों का ग्रहण किया गया है जो मन्त्र-दीक्षा के समकाल ही अपने को मुक्त हुआ समझ कर अभिमानी बने रहते हैं; अपनी दीक्षा को यम-नियम रहित होते हुए भी अनाचार की क्षयकारिणी समर्थ दीक्षा मानते हैं और इसलिये बड़े से बड़े अनाचार – हिंसादिक घोर पाप – करते हुए भी उसमें कोई दोष नहीं देखते। वे कहते हैं– 'स्वभाव से ही यथेच्छ प्रवृत्ति होने के कारण बड़े से बड़े अनाचार के मार्ग दोष के कारण नहीं होते और इसलिये उन्हें उनका आचरण करते हुए भी प्रसिद्ध जीवन्मुक्त की तरह कोई दोष नहीं लगता।'

दूसरे अर्थ में उन मीमांसकों[1] का ग्रहण किया गया है जो कर्मों के क्षय से उत्पन्न अनन्तज्ञानादिरूप मुक्ति का होना नहीं मानते, यम-नियमादिरूप दीक्षा भी नहीं मानते और स्वभाव से ही जगत् के भूतों (प्राणियों) की स्वच्छन्द-प्रवृत्ति बतलाकर मांस-भक्षण, मदिरापान तथा यथेच्छ मैथुनसेवन जैसे अनाचारों में कोई दोष नहीं देखते। साथ ही, वेद-विहित पशुवधादि ऊँचे दर्जे के अनाचार-मार्गों को भी निर्दोष बतलाते हैं, जबकि वेद-बाह्य ब्रह्महत्यादि को निर्दोष न बतलाकर सदोष ही घोषित करते हैं।

ऐसे सब लोग वीर जिनेन्द्र की दृष्टि अथवा उनके बतलाये हुए सन्मार्ग से बाह्य हैं। ठीक तत्त्व के निश्चय को प्राप्त न होने के कारण सदोष को निर्दोष मानकर विभ्रम में पड़े हुए हैं।

---

1. महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के सूत्रकार हैं। मीमांसा के दो भेद हैं – पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा में वैदिक कर्मकाण्ड का वर्णन है और उत्तरमीमांसा का विषय है ब्रह्म। अत: उत्तरमीमांसा 'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध है। पूर्वमीमांसा में भी कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर इन दो आचार्यों के अनुयायियों के अनुसार भाट्ट तथा प्राभाकर इस प्रकार दो भेद हैं। (देखें, **'आप्तमीमांसा – तत्त्वदीपिका'**, कारिका 3, पृ. 57-58)

   मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं और सर्वज्ञ की सत्ता को नहीं स्वीकारते हैं।

मीमांसक द्वारा मान्य हिंसादि से स्वर्ग की प्राप्ति, यह घोर अन्धकार है-

प्रवृत्तिरक्तैः शमतुष्टिरिक्तै-
रुपेत्य हिंसाऽभ्युदयाङ्गनिष्ठा ।
प्रवृत्तितः शान्तिरपि प्ररूढं
तमः परेषां तव सुप्रभातम् ।३८॥

अन्वयार्थ - [**शम-तुष्टि-रिक्तैः**] जो लोग शम (शान्ति) और तुष्टि (सन्तुष्टि) से रिक्त (शून्य) और इसलिये [**प्रवत्तिरक्तैः**] प्रवृत्ति-रक्त हैं [हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रह में किसी प्रकार का नियम अथवा मर्यादा न रखकर उनमें प्रकर्षरूप से प्रवृत्त अथवा आसक्त हैं] उन (यज्ञवादी मीमांसकों) के द्वारा [**उपेत्य**] (प्रवृत्ति को) स्वयं अपनाकर, [**हिंसा अभ्युदयाङ्ग-निष्ठा**] 'हिंसा अभ्युदय (स्वर्गादिक-प्राप्ति) के हेतु की आधारभूत है' ऐसी जो मान्यता है, इसी तरह [**प्रवृत्तितः शान्तिः अपि**] 'प्रवृत्ति से शान्ति होती है' ऐसी जो मान्यता [**प्ररूढं**] प्रचलित की गई है, वह भी [**परेषां**] दूसरों का (उनका) [**तमः**] घोर अन्धकार है। अतः [**तव**] (हे वीर जिन!) आपका मत ही [**सुप्रभातम्**] सुप्रभातरूप है।

शम (शान्ति) और तुष्टि (सन्तुष्टि) से रिक्त (शून्य) लोगों को न तो क्रोधादिक से शान्ति है और न ही सन्तोष और इसीलिये वे प्रवृत्ति-रक्त हैं; हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील (अब्रह्म) और परिग्रह में किसी प्रकार का नियम अथवा मर्यादा न रखकर उनमें प्रकर्षरूप से प्रवृत्त अथवा आसक्त हैं। उनकी यह मान्यता कि 'हिंसा अभ्युदय (स्वर्गादिक प्राप्ति) के हेतु की आधारभूत है' और इसी तरह यह मान्यता कि 'प्रवृत्ति से शान्ति होती है', घोर अज्ञान-अन्धकाररूप है। बाह्य पदार्थों में भटका हुआ उपयोग (राग-द्वेष आदि) अशान्ति का ही कारण है; वहाँ शान्ति हो ही नहीं सकती। अतः हे वीर जिन! आपका मत (स्याद्वाद-शासन) ही - सकल अज्ञान-अन्धकार को दूर करने में समर्थ होने से - सुप्रभातरूप है।

प्रचलित अन्य मिथ्या मान्यतायें युक्तिपूर्ण नहीं हैं-

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखै-
र्देवान् किलाऽऽराध्य सुखाभिगृद्धाः ।
सिद्ध्यन्ति दोषाऽपचयाऽनपेक्षा
युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥३९॥

अन्वयार्थ - [**आत्म-दुःखैः**] जीवात्मा के लिये दुःख के निमित्तभूत जो [**शीर्षोपहारादिभिः**] अपने या बकरे आदि के सिर की बलि चढ़ाना आदि के द्वारा [**देवान्**] देवों की [**किल आराध्य**] आराधना करके केवल वे ही लोग [**सिद्ध्यन्ति**] सिद्ध होते हैं - अपने को सिद्ध समझते हैं या घोषित करते हैं - जो [**दोषाऽपचयाऽनपेक्षा**] दोषों के अपचय (विनाश) की अपेक्षा नहीं रखते और [**सुखाभिगृद्धाः**] काम-सुखादि के लोलुपी हैं [**तेषां च**] और यह बात उन्हीं के लिए [**युक्तं**] युक्त है [**येषां**] जिनके, हे वीर जिन! [**त्वं**] आप [**ऋषिः**] ऋषि-गुरु [**न**] नहीं हैं।

'शीर्षोपहार आदि', अर्थात् अपने या बकरे आदि के सिर की बलि चढ़ाना, गुग्गुल धारण करना, मकर को भोजन कराना, पर्वत पर से गिरना आदि के द्वारा देवों की आराधना करना, ये सब जीवात्मा के लिये दुःख के निमित्तभूत कारण हैं। जो केवल अपने को ही सिद्ध समझते हैं या घोषित करते हैं, दोषों के अपचय (विनाश) की अपेक्षा नहीं रखते - रागद्वेषादि विकारों को दूर करने की चेष्ठा-रहित - और काम-सुखादि के लोलुपी हैं, यह बात उन्हीं के लिए युक्त है। हे वीर जिन! आप उन मिथ्यादृष्टियों के ऋषि-गुरु नहीं हैं।

जो आपको अपना ऋषि-गुरु मानते हैं वे हिंसादिक से विरक्तचित्त हैं। वे दया-दम-त्याग-समाधि की तत्परता को लिये हुए आपके अद्वितीय शासन (मत) को प्राप्त हैं और नय-प्रमाण द्वारा विनिश्चित परमार्थ की एवं यथावस्थित जीवादि-तत्त्वार्थों की प्रतिपत्ति में कुशलमना हैं। उन सम्यग्दृष्टियों के इस प्रकार की मिथ्या-मान्यतारूप प्ररूढतमता नहीं बनती। प्रमाद से अथवा अशक्ति के कारण कहीं हिंसादिक का आचरण होता भी हो तब भी उसमें उनके मिथ्या-अभिनिवेशरूप पाश के लिये अवकाश नहीं होता; वे उससे अपनी

सिद्धि अथवा आत्महित का होना नहीं मानते। ज्ञानीजन देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता और लोकमूढ़ता से दूर रहकर ही आत्महित का साधन करते हैं।

इस कारिका के समापन पर ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य विद्यानन्द स्वामी कहते हैं–

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
सम्प्राप्तस्य विशुद्धिशक्तिपदवीं काष्ठां परमाश्रिताम् ।
निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥

"(यहाँ तक) इस युक्त्यनुशासन स्तोत्र में शुद्धि और शक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए वीर जिनेन्द्र के अनेकान्तात्मक स्याद्वाद मत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्त के आग्रह को लिये हुए मिथ्यामतों का समूह है उसका संक्षेप से निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियों को भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।"

षष्ठ परिच्छेद (४०-४७)

जैन दर्शनानुसार अनेकान्तात्मक-वस्तु-स्वरूप एवं स्याद्वाद विमर्ष

विशेष सामान्यनिष्ठ है अतः वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है-

सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषाः
पदं विशेषान्तरपक्षपाति ।
अन्तर्विशेषान्तर्वृत्तितोऽन्यत्
समानभावं नयते विशेषम् ।।४०।।

अन्वयार्थ - [**विविधाः विशेषाः**] जो विविध (अनेक प्रकार के) विशेष हैं, वे सब [**सामान्य-निष्ठाः**] सामान्यनिष्ठ हैं। [**पदं**] (वर्णसमूहरूप) पद जो कि [**विशेषान्तरपक्षपाति**] विशेषान्तर का पक्षपाती (स्वीकार करने वाला) होता है वह विशेष को प्राप्त कराता है। साथ ही [**अन्तर्विशेषान्तर्वृत्तितः**] विशेषान्तरों के अन्तर्गत उसकी (पद की) वृत्ति होने से [**अन्यत्**] दूसरे (जात्यात्मक) [**विशेषं**] विशेष को [**समानभावं**] सामान्य रूप में भी [**नयते**] प्राप्त कराता है।

सातवीं कारिका में 'अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं' इस वाक्य के द्वारा यह बतलाया गया है कि वीर-शासन में वस्तुतत्त्व को सामान्य-विशेषात्मक[1] माना गया है। तब यह प्रश्न उठता है कि जो विशेष हैं वे सामान्य में निष्ठ (निर्भर, पूर्ण केन्द्रित, परिसमाप्त) हैं, या सामान्य

1. सामान्य और विशेष स्वरूप वाला वह पदार्थ प्रमाण का विषय है। अनुगत (साथ-साथ रहने वालों के) ज्ञान का विषयरूप नामवाला सामान्य है। व्यावृत (यह उससे भिन्न है) ज्ञान का विषयरूप नामवाला विशेष है। (अद्वैतवादी और सांख्य मतावलम्बी पदार्थ को सामान्यात्मक ही मानते हैं। बौद्ध पदार्थ को विशेष रूप ही मानते हैं। नैयायिक, वैशेषिक सामान्य को एक

विशेषों में निष्ठ है, अथवा सामान्य और विशेष दोनों परस्पर में निष्ठ हैं। इसका उत्तर है कि जो विविध (अनेक प्रकार के) विशेष हैं, वे सब सामान्यनिष्ठ हैं। अर्थात् एक द्रव्य में रहने वाले क्रमभावी और सहभावी के भेद-प्रभेद को लिये हुए जो परिस्पन्द और अपरिस्पन्द-रूप नाना प्रकार के पर्याय हैं वे सब एक द्रव्यनिष्ठ होने से ऊर्ध्वता-सामान्य में परिसमाप्त हैं। और इसलिये विशेषों में निष्ठ सामान्य नहीं हैं, क्योंकि तब किसी विशेष (पर्याय) के अभाव होने पर सामान्य के भी अभाव होने का प्रसंग आयेगा, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है। किसी भी विशेष के नष्ट होने पर सामान्य का अभाव नहीं होता, उसकी दूसरे विशेषों (पर्यायों) में उपलब्धि देखी जाती है और इससे सामान्य का सर्व-विशेषों में निष्ठ होना भी बाधित पड़ता है। फलतः दोनों को निरपेक्षरूप से परस्परनिष्ठ मानना भी बाधित है, उसमें दोनों का ही अभाव ठहरता है और वस्तु आकाशकुसुम के समान अवस्तु हो जाती है।[2]

यदि विशेष सामान्यनिष्ठ हैं तो फिर यह शंका उत्पन्न होती है कि वर्णसमूहरूप पद किसे प्राप्त करता है- विशेष को, सामान्य को, उभय को या अनुभय को, अर्थात् इनमें से किसका बोधक या प्रकाशक होता है? इसका समाधान यह है कि पद जो कि विशेषान्तर का पक्षपाती होता है – द्रव्य, गुण, कर्म इन तीन प्रकार के विशेषों में से किसी एक में

स्वतन्त्र पदार्थ और विशेष को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं और उनका द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध मानते हैं।)

तिर्यक् और ऊर्ध्वता के भेद से सामान्य दो प्रकार का है-

तिर्यक्-सामान्य – सदृश परिणाम को तिर्यक्-सामान्य कहते हैं, जैसे खण्डी, मुण्डी आदि गायों में गौपना।

ऊर्ध्वता-सामान्य – पूर्व और उत्तर पर्यायों में व्याप्त होकर रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता-सामान्य कहते हैं, जैसे स्थास आदि पर्यायों में मिट्टी।

पर्याय और व्यतिरेक के भेद से विशेष भी दो प्रकार का है-

पर्याय – एक द्रव्य में क्रम से होने वाले पर्याय हैं, जैसे आत्मा में हर्ष और विषाद।

व्यतिरेक – एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ को प्राप्त विसदृश (असमान) परिणाम व्यतिरेक कहलाता है, जैसे गाय, भैंस आदि में विलक्षणपना। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, चतुर्थ परिच्छेद, पृ. 159-165)

2. स्याद्वाद शासन में- "विशेष से रहित सामान्य निश्चय से गधे के सींग के समान है और सामान्य से रहित होने के कारण विशेष भी गधे के सींग के समान है, अर्थात् अवस्तु है; ऐसा जानना चाहिए।" (**'आलापपद्धति'**, 131, पृ. 118) (देखें, पूर्व पृ. 59)

प्रवर्तमान हुआ दूसरे विशेषों को भी स्वीकार करता है, अस्वीकार करने पर किसी एक विशेष में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं बनती – वह विशेष को प्राप्त कराता है, अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म में से एक को प्रधानरूप से प्राप्त कराता है तो दूसरे को गौणरूप से। साथ ही विशेषान्तरों के अन्तर्गत उसकी (पद की) वृत्ति होने से दूसरे (जात्यात्मक) विशेष को सामान्य रूप में भी प्राप्त कराता है। यह सामान्य तिर्यक्–सामान्य होता है। इस तरह पद सामान्य और विशेष दोनों को प्राप्त कराता है – एक को प्रधानरूप से प्रकाशित करता है तो दूसरे को गौणरूप से। विशेष की अपेक्षा न रखता हुआ केवल सामान्य और सामान्य की अपेक्षा न रखता हुआ केवल विशेष, दोनों अप्रतीयमान होने से अवस्तु हैं, उन्हें पद प्रकाशित नहीं करता। फलतः परस्पर निरपेक्ष उभय को और अवस्तु रूप अनुभय को भी पद प्रकाशित नहीं करता। किन्तु इन सर्वथा सामान्य, सर्वथा विशेष, सर्वथा उभय और सर्वथा अनुभय से विलक्षण सामान्य–विशेषरूप वस्तु को पद प्रधान और गौणभाव से प्रकाशित करता हुआ यथार्थता को प्राप्त होता है, क्योंकि ज्ञाता की उस पद से उसी प्रकार की वस्तु में प्रवृत्ति और प्राप्ति देखी जाती है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों की तरह।

स्यात् के अभाव में 'एवकार' के प्रयोग से एकान्त पक्ष के होने से वस्तु का अभाव होता है-

यदेवकारोपहितं पदं तद्-
अस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
पर्यायसामान्यविशेषसर्वं
पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥४१॥

अन्वयार्थ - [**यत्पदं**] जो पद [**एवकारोपहितं**] एवकार - 'एव' नाम के निपात - से उपहित (युक्त) है [**तद्**] वह (जैसे) [**अस्वार्थतः**] अस्वार्थ से (अजीवत्व से) [**स्वार्थम्**] स्वार्थ को (जीवत्व को) [**अवच्छिनत्ति**] अलग करता है (व्यवच्छेदक है), (वैसे ही) [**पर्याय-सामान्य-विशेषसर्वं**] सब स्वार्थ-पर्यायों, स्वार्थ-सामान्यों और स्वार्थ-विशेषों को भी अलग करता है। [**च पदार्थहानिः**] और इससे पदार्थ की (जीवपद के अभिधेयरूप जीवत्व की) भी हानि उसी प्रकार ठहरती है [**विरोधिवत्**] जिस प्रकार कि विरोधी (अजीवत्व) की हानि [**स्यात्**] होती है।

जो पद एवकार से उपहित (युक्त) है - अवधारणार्थक (निश्चय कराने वाला) 'एव' नाम के निपात से विशिष्ट है, जैसे 'जीव एव' (जीव ही) - वह अस्वार्थ से स्वार्थ को (अजीवत्व से जीवत्व को) जैसे अलग करता है, अर्थात् अस्वार्थ (अजीवत्व) का व्यवच्छेदक है, वैसे ही सब स्वार्थ-पर्यायों (सुख, ज्ञानादिक), सब स्वार्थ-सामान्यों (द्रव्यत्व, चेतनत्वादि) और सब स्वार्थ-विशेषों [अभिधानाऽविषयभूत (छद्मस्थ के ज्ञान के विषय में न आने वाले) अनन्त अर्थपर्यायों] सभी को अलग करता है, अर्थात् उन सब का भी व्यच्छेदक है; अन्यथा उस एक पद से ही उनका भी बोध होना चाहिये; उनके लिये अलग-अलग पदों का प्रयोग - जैसे मैं सुखी हूँ, ज्ञानी हूँ, द्रव्य हूँ, चेतन हूँ, इत्यादि - व्यर्थ ठहरता है। इससे, उन क्रमभावी धर्मों-पर्यायों, सहभावी धर्मों-सामान्यों तथा अनभिधेय (ज्ञान में न आने वाले) धर्मों-अनन्त अर्थपर्यायों का व्यच्छेद (अभाव) होने पर, पदार्थ की (जीवपद के अभिधेयरूप जीवत्व की) भी हानि उसी प्रकार ठहरती है

जिस प्रकार कि विरोधी (अजीवत्व) की हानि होती है; क्योंकि स्वपर्यायों आदि के अभाव में जीवादि कोई भी अलग वस्तु सम्भव नहीं हो सकती।

यदि यह कहा जाये कि एवकार से विशिष्ट 'जीव' पद अपने प्रतियोगी 'अजीव' पद का ही व्यच्छेदक (अभाव करने वाला) होता है, अप्रतियोगी स्वपर्यायों, सामान्यों तथा विशेषों का नहीं, क्योंकि वे अप्रस्तुत-अविवक्षित होते हैं तो, ऐसा कहना एकान्तवादियों के लिये ठीक नहीं है। इससे स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) के अनुप्रवेश का प्रसंग आता है, और उससे उनके एकान्त सिद्धान्त की हानि ठहरती है।

'एवकार' के न कहने पर वस्तु के वस्तुत्व की हानि होती है-

अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं
व्यावृत्यभावान्नियमद्वयेऽपि ।
पर्यायभावेऽन्यतरप्रयोग-
स्तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनम् ।।४२।।

अन्वयार्थ - [**यत्**] जो पद [**अनेवकारं**] एवकार से रहित है वह [**अनुक्ततुल्यं**] अनुक्ततुल्य (नहीं कहे हुए के समान) है, क्योंकि उससे [**नियमद्वयेऽपि**] नियम-द्वय के इष्ट होने पर भी [**व्यावृत्यभावात्**] व्यावृत्ति का (प्रतिपक्ष का) अभाव होता है तथा [**पर्यायभावे**] (पदों में परस्पर) पर्यायभाव ठहरता है, (पर्यायभाव के होने पर परस्पर प्रतियोगी पदों में से) [**अन्यतरप्रयोगः**] चाहे जिस पद का कोई प्रयोग कर सकता है और (चाहे जिस पद का प्रयोग होने पर) [**तत् सर्वं**] सम्पूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात (जानने योग्य वस्तु) [**अन्यच्युतं**] अन्य से च्युत हो जाता है (और जो प्रतियोगी से रहित होता है) वह [**आत्महीनम्**] आत्महीन (अपने स्वरूप से रहित) होता है।

जो पद एवकार से रहित है वह अनुक्ततुल्य (नहीं कहे हुए के समान) है, क्योंकि उससे कर्तृ-क्रिया-विषयक नियम-द्वय के इष्ट होने पर भी व्यावृत्ति का (प्रतिपक्ष का) अभाव होता है। **निश्चयपूर्वक कोई एक बात न कहे जाने से प्रतिपक्ष की निवृत्ति नहीं बन सकती** तथा व्यावृत्ति का अभाव होने अथवा प्रतिपक्ष की निवृत्ति न हो सकने से पदों में परस्पर पर्यायभाव ठहरता है। पर्यायभाव के होने पर परस्पर प्रतियोगी पदों में से चाहे जिस पद का कोई प्रयोग कर सकता है, और चाहे जिस पद का प्रयोग होने पर सम्पूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात (जानने योग्य वस्तु) अन्य से च्युत (प्रतियोगी से रहित) हो जाता है और जो प्रतियोगी से रहित (अर्थात् विपक्ष से रहित) होता है वह आत्महीन होता है, अपने स्वरूप का प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता। इस तरह भी पदार्थ की हानि ठहरती है।

उदाहरण के तौर पर 'अस्ति जीवः' इस वाक्य में 'अस्ति' और 'जीवः' ये दोनों पद

एवकार से रहित हैं। 'अस्ति' पद के साथ अवधारणार्थक (निश्चयात्मक) 'एव' शब्द के न होने से अस्तित्व के प्रतिपक्षी नास्तित्व का व्यवच्छेद (निषेध) नहीं बनता और नास्तित्व का व्यवच्छेद न बन सकने से 'अस्ति' पद के द्वारा नास्तित्व का भी प्रतिपादन होता है और इसलिये 'अस्ति' पद के प्रयोग में कोई विशेषता न रहने से वह अनुक्ततुल्य (नहीं कहे हुए के समान) हो जाता है। इसी तरह 'जीव' पद के साथ 'एव' शब्द का प्रयोग न होने से जीव के प्रतिपक्षी अजीवत्व का व्यवच्छेद नहीं बनता और अजीवत्व का व्यवच्छेद न बन सकने से 'जीव' पद के द्वारा अजीवत्व का भी प्रतिपादन होता है, और इसलिये 'जीव' पद के प्रयोग में कोई विशेषता न रहने से वह अनुक्ततुल्य हो जाता है। इस तरह 'अस्ति' पद के द्वारा नास्तित्व का भी और 'नास्ति' पद के द्वारा अस्तित्व का भी प्रतिपादन होने से तथा 'जीव' पद के द्वारा अजीव अर्थ का भी और 'अजीव' पद के द्वारा जीव अर्थ का भी प्रतिपादन होने से अस्ति-नास्ति पदों में तथा जीव-अजीव पदों में घट-कुट (कुम्भ) शब्दों की तरह परस्पर पर्यायभाव ठहरता है। पर्यायभाव होने पर परस्पर प्रतियोगी पदों में भी सभी मानवों के द्वारा, घट-कुट शब्दों की तरह, चाहे जिसका प्रयोग किया जा सकता है और चाहे जिसका प्रयोग होने पर सम्पूर्ण अभिधेयभूत वस्तुजात अन्य से (प्रतियोगी से) च्युत (रहित) हो जाता है; अर्थात् अस्तित्व, नास्तित्व से सर्वथा रहित हो जाता है और इससे सत्ताऽद्वैत (भावैकान्त; देखें, कारिका 8 व 32) का प्रसंग आता है।[1] नास्तित्व का सर्वथा अभाव होने पर सत्ताऽद्वैत आत्महीन ठहरता है, क्योंकि पररूप के त्याग के अभाव में स्वरूप-ग्रहण की उपपत्ति नहीं बन सकती, घट में अघटरूप के त्याग बिना अपने स्वरूप की प्रतिष्ठा नहीं बन सकती। इसी तरह नास्तित्व के सर्वथा अस्तित्वरहित होने पर शून्यवाद[2] का प्रसंग आता है और क्योंकि अभाव, भाव के बिना नहीं बन सकता, इससे शून्य भी आत्महीन ही हो जाता है। शून्य का स्वरूप से भी अभाव होने पर उसके पररूप का त्याग असम्भव है, जैसे पट के स्वरूपग्रहण के अभाव में शाश्वत अपटरूप का त्याग भी असम्भव है क्योंकि वस्तु का वस्तुत्व स्वरूप के ग्रहण और पररूप के त्याग की व्यवस्था पर ही निर्भर है। वस्तु ही परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अवस्तु हो जाती है (देखें, **'आप्तमीमांसा'**, कारिका 48)। सकलरूप से शून्य जुदी कोई अवस्तु सम्भव ही नहीं है। अतः कोई भी वस्तु जो अपनी प्रतिपक्षभूत अवस्तु से वर्जित है वह अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं होती।

---

1. अस्तित्व नास्तित्व का अविनाभावी है। (देखें, **'आप्तमीमांसा'**, कारिका 17, 18)
2. शून्यवाद (शून्याद्वैत) - चेतन-अचेतन कोई भी पदार्थ नहीं है, सब शून्य-स्वरूप है; यह बौद्ध का एक भेद माध्यमिक का कहना है। (देखें, व्याख्या, पूर्व श्लोक 25)

'स्यात्' शब्द से ही वस्तु के स्वरूप का निश्चय होता है-

विरोधि चाऽभेद्यविशेषभावात्-
तद्द्योतनः स्याद्गुणतो निपातः ।
विपाद्यसन्धिश्च तथाऽङ्गभावा-
दवाच्यता श्रायसलोपहेतुः ॥४३॥

अन्वयार्थ - **[च]** और यदि (सत्ताऽद्वैतवादियों अथवा सर्वथा शून्यवादियों की मान्यतानुसार सर्वथा अभेद का अवलम्बन लेकर यह कहा जाये कि-) पद (अस्ति या नास्ति) **[अभेदि]** अभेदी है तो **[विरोधि]** यह कथन विरोधी है (अथवा इससे उस पद का अभिधेय[1] (वाच्य) आत्महीन ही नहीं, किन्तु विरोधी भी हो जाता है), क्योंकि **[अविशेषभावात्]** किसी भी विशेष का (भेद का) तब अस्तित्व बनता ही नहीं है। **[तद्द्योतनः]** उस विरोधी धर्म का द्योतक **[स्यात्]** 'स्यात्'[2] नाम का **[निपातः]** निपात (शब्द) है जो **[गुणतः]** गौणरूप से उस धर्म का द्योतन करता है, **[च]** साथ ही **[विपाद्यसन्धिः]** (वह 'स्यात्' पद) विपक्षभूत धर्म की सन्धि-संयोजनास्वरूप होता है, (उसके रहते दोनों धर्मों में विरोध नहीं रहता) क्योंकि **[तथाऽङ्गभावात्]** दोनों में अंगपना है (और स्यात्पद दोनों अंगों को जोड़ने वाला है)। **[अवाच्यता]** सर्वथा अवाच्यता (अवक्तव्यता) तो (युक्त नहीं है, क्योंकि वह) **[श्रायसलोपहेतुः]** श्रायस-मोक्ष अथवा आत्महित के लोप की कारण है।

(पूर्व कारिका में वर्णित) यदि सत्ताऽद्वैतवादियों अथवा सर्वथा शून्यवादियों की

---

1. शब्द में अर्थ बताने की एक सहज योग्यता होती है। शब्द और अर्थ का यह सम्बन्ध ही वाच्य-वाचक सम्बन्ध कहलाता है। इसे ही अभिधेय-अभिधान सम्बन्ध भी कहते हैं। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, पृ 155)

2. 'स्यात्' शब्द का अर्थ- "सर्वथास्तित्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथंचिदित्यपरनामकः स्याच्छब्दो निपातः । (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 14, फुटनोट, पृ. 153)

मान्यतानुसार सर्वथा अभेद का अवलम्बन लेकर यह कहा जाये कि पद (अस्ति या नास्ति) अपने प्रतियोगी पद के साथ सर्वथा अभेदी है और इसलिये एक पद का अभिधेय (वाच्य) अपने प्रतियोगी पद के अभिधेय से च्युत (भिन्न) न होने के कारण वह आत्महीन नहीं है, तो यह कथन विरोधी है। इससे उस पद का अभिधेय आत्महीन ही नहीं, किन्तु विरोधी भी हो जाता है, क्योंकि किसी भी विशेष का (भेद का) तब अस्तित्व बनता ही नहीं है। उदाहरण के लिये- जो सत्ताऽद्वैत (भावैकान्त) वादी यह कहता है कि- 'अस्ति' पद का अभिधेय अस्तित्व 'नास्ति' पद के अभिधेय नास्तित्व से सर्वथा अभेदी (अभिन्न) है, उसके मत में पदों तथा अभिधेयों का परस्पर विरोध भेद (भिन्नता) का कर्ता है, क्योंकि सत्ताऽद्वैत मत में सम्पूर्ण विशेषों-भेदों का अभाव होने से अभिधान और अभिधेय का विरोध है (दोनों घटित नहीं हो सकते); दोनों को स्वीकार करने पर अद्वैतता नष्ट होती है और उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है। इस पर यदि यह कहा जाये कि 'अनादि-अविद्या के वश से भेद का सद्भाव है इससे दोष नहीं' तो यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि विद्या-अविद्या भेद भी तब बनते नहीं। उन्हें यदि माना जायेगा तो द्वैतता का प्रसंग आयेगा और उससे सत्ताऽद्वैत सिद्धान्त की हानि होगी; वह नहीं बन सकेगा। अथवा 'अस्तित्व से नास्तित्व अभेदी है' यह कथन केवल आत्महीन ही नहीं किन्तु विरोधी भी है (ऐसा 'च' शब्द के प्रयोग से जाना जाता है), क्योंकि जब भेद का सर्वथा अभाव है तब अस्तित्व और नास्तित्व भेदों का भी अभाव है। जो मनुष्य कहता है कि 'यह इससे अभेदी (अभिन्न) है' उसने उन दोनों का कथञ्चित् भेद मान लिया, अन्यथा उसका यह वचन बन नहीं सकता, क्योंकि कथञ्चित् (किसी प्रकार से) भी भेदी के न होने पर भेदी का प्रतिषेध - अभेदी कहना - विरुद्ध पड़ता है। कोई भेदी ही नहीं तो अभेदी (न भेदी) का व्यवहार भी कैसे बन सकता है? नहीं बन सकता।

यदि यह कहा जाये कि शब्दभेद तथा विकल्पभेद के कारण भेदी होने वालों का जो प्रतिषेध है वह उनके स्वरूपभेद का प्रतिषेध है तब भी शब्दों और विकल्पों के भेद को स्वयं न चाहते हुए भी संज्ञी के भेद को कैसे दूर किया जायेगा, जिससे द्वैतापत्ति होती है? क्योंकि संज्ञी का प्रतिषेध, प्रतिषेध्य-संज्ञी के अस्तित्व बिना बन नहीं सकता।[1] इसके उत्तर में यदि यह कहा जाये कि 'दूसरे मानते हैं इसी से शब्द और विकल्प के भेद को इष्ट किया गया है, इसमें कोई दोष नहीं', तो यह कथन भी नहीं बनता, क्योंकि अद्वैतावस्था में स्व-पर का भेद ही जब इष्ट नहीं तब 'दूसरे मानते हैं' यह हेतु भी सिद्ध नहीं होता और

1. किसी भी वस्तु का प्रतिषेध अर्थात् निषेध वस्तु के होने पर ही बनता है।

असिद्ध-हेतु द्वारा साध्य की सिद्धि बन नहीं सकती। इस पर यदि यह कहा जाये कि 'विचार से पूर्व तो स्व-पर का भेद प्रसिद्ध ही है' तो यह बात भी नहीं बनती, क्योंकि अद्वैतावस्था में पूर्वकाल और अपरकाल का भेद भी सिद्ध नहीं होता। अतः सत्ताऽद्वैत की मान्यतानुसार सर्वथा भेद का अभाव मानने पर 'अभेदी' वचन विरोधी ठहरता है, यह सिद्ध हुआ। इसी तरह सर्वथा शून्यवादियों का नास्तित्व से अस्तित्व को सर्वथा अभेदी बतलाना भी विरोधदोष से दूषित है, ऐसा जानना चाहिये।

अब प्रश्न यह उठता है कि अस्तित्व का विरोधी होने से नास्तित्व धर्म वस्तु में स्याद्वादियों द्वारा कैसे विहित किया जाता है, क्योंकि 'अस्ति' पद के साथ 'एव' लगाने से तो 'नास्तित्व' का व्यवच्छेद (अभाव) हो जाता है और 'एव' के साथ में न लगाने से उसका कहना ही अशक्य ठहरता है अर्थात् वह पद तब अनुक्ततुल्य (नहीं कहे के समान) होता है। इससे तो दूसरा कोई प्रकार न बन सकने से अवाच्यता (अव्यक्तव्यता) ही फलित होती है। तब क्या वही युक्त है? इस सब शंका का समाधान इस प्रकार है-

उस विरोधी धर्म का द्योतक 'स्यात्'[2] नाम का निपात (शब्द) है जो स्याद्वादियों के द्वारा संप्रयुक्त किया जाता है और जो गौणरूप से उस धर्म का द्योतन करता है। इसी से दोनों विरोधी-अविरोधी (नास्तित्व-अस्तित्व जैसे) धर्मों का प्रकाशन-प्रतिपादन होते हुए भी जो विधि का अर्थी है उसकी प्रतिषेध में प्रवृत्ति नहीं होती। साथ ही वह 'स्यात्' पद विपक्षभूत धर्म की सन्धि (संयोजनास्वरूप) होता है; उसके रहते दोनों धर्मों में विरोध नहीं रहता, क्योंकि दोनों में अंगपना है और स्यात्पद दोनों अंगों को जोड़ने वाला है।

सर्वथा अवक्तव्यता (अवाच्यता) युक्त नहीं है, क्योंकि वह श्रायस (मोक्ष) अथवा आत्महित के लोप की कारण है, क्योंकि उपेय और उपाय के वचन बिना उनका उपदेश नहीं बनता; उपदेश के बिना श्रायस के उपाय का (मोक्षमार्ग का) अनुष्ठान नहीं बन सकता और उपाय (मार्ग) का अनुष्ठान न बन सकने पर उपेयरूप श्रायस (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती। इस तरह अवक्तव्यता श्रायस के लोप की हेतु ठहरती है। अतः

---

2. यह 'स्यात्' शब्द तीन संज्ञा वाला है - किञ्चित्, कथञ्चित्, कथंचन। ये तीन स्याद्वाद के पर्याय शब्द हैं, जिनका अर्थ 'किसी अपेक्षा से' होता है। अतः वह 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का साधक है; उसके बिना अनेकान्त की सिद्धि नहीं हो सकती। निपात से इस स्यात् की निष्पत्ति हुई है। यह विरोध का नाश करने वाला है। (देखें, **'णयचक्को'**, पृ 127-128)
पूर्व पृ. 97 पर दिया गया फुटनोट 2 भी देखें।

स्यात्कार लांछित एवकार से युक्त पद ही अर्थवान् है, ऐसा प्रतिपादन करना चाहिये; यही तात्पर्यात्मक अर्थ है।

(इस तरह तो 'स्यात्' शब्द के सर्वत्र प्रयोग का प्रसंग आता है, तब उसका पद-पद के प्रति अप्रयोग शास्त्र में और लोक में किस कारण से प्रतीत होता है? इस शंका का समाधान अगली कारिका में दिया गया है।)

स्याद्वाद शासन में अभिप्राय मात्र से बिना कहे भी 'स्यात्' शब्द का ग्रहण करना चाहिए-

तथा प्रतिज्ञाऽऽशयतोऽप्रयोगः
सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्तिः ।
इति त्वदीया जिननाग! दृष्टिः
पराऽप्रधृष्या परधर्षिणी च ॥४४॥

अन्वयार्थ - (शास्त्र में और लोक में 'स्यात्' निपात का) [**अप्रयोगः**] जो अप्रयोग है (हर-एक पद के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाना है, उसका कारण) [**तथा**] उस प्रकार का [**प्रतिज्ञाऽऽशयतः**] प्रतिज्ञा-आशय है (प्रतिज्ञा में प्रतिपादन करने वाले का अभिप्राय सन्निहित है)। [**वा**] अथवा (स्याद्वादियों के) [**प्रतिषेध-युक्तिः**] प्रतिषेध की (सर्वथा एकान्त के व्यवच्छेद की) युक्ति [**सामर्थ्यतः**] सामर्थ्य से ही घटित हो जाती है। [**इति**] इस प्रकार [**जिननाग**] हे जिनश्रेष्ठ वीर भगवन्! [**त्वदीया दृष्टिः**] आपकी दृष्टि (नागदृष्टिसम अनेकान्त) [**पराऽप्रधृष्या**] दूसरों के (सर्वथा एकान्तवादियों के) द्वारा अप्रधृष्या (अबाधितविषया) है [**च**] और साथ ही [**परधर्षिणी**] परधर्षिणी भी है [दूसरे भावैकान्तादि-वादियों की दृष्टि की धर्षणा (तिरस्कृति) करने वाली है, अर्थात् उनके सर्वथा एकान्तरूप से मान्य सिद्धान्तों को बाधा पहुँचाने वाली है]।

शास्त्र में और लोक में 'स्यात्' निपात का जो अप्रयोग है (हर-एक पद के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाना है) उसका कारण उस प्रकार का प्रतिज्ञा-आशय है, अर्थात् प्रतिज्ञा में प्रतिपादन करने वाले का अभिप्राय सन्निहित है। जैसे शास्त्र में 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'[1] इत्यादि वाक्यों में कहीं पर भी 'स्यात्' या 'एव' शब्द का प्रयोग नहीं है परन्तु शास्त्रकारों के द्वारा अप्रयुक्त होते हुए भी वह जाना जाता है,

1. **'तत्त्वार्थसूत्र'**, 1 : 1

क्योंकि उनके वैसे प्रतिज्ञाशय (प्रतिज्ञा के अभिप्राय) का सद्भाव है। अथवा (स्याद्वादियों के) प्रतिषेध की (सर्वथा एकान्त के व्यवच्छेद की) युक्ति सामर्थ्य से ही घटित हो जाती है, क्योंकि 'स्यात्' पद का आश्रय लिये बिना कोई भी स्याद्वादी नहीं बनता और न स्यात्कार के प्रयोग बिना अनेकान्त की सिद्धि ही घटित होती है, जैसे कि एवकार के प्रयोग बिना सम्यक् एकान्त की सिद्धि नहीं होती। अतः स्याद्वादी होना ही इस बात को सूचित करता है कि उसका आशय प्रतिपद के साथ 'स्यात्' शब्द के प्रयोग का है, भले ही उसके द्वारा प्रयुक्त हुए प्रतिपद के साथ में 'स्यात्' शब्द लगा हुआ न हो, यही उसके पद-प्रयोग की सामर्थ्य है।

इसके सिवाय 'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्'[2] इस प्रकार के वाक्य में 'स्यात्' शब्द का अप्रयोग है, ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि 'स्वरूपादिचतुष्टयात्' इस वचन से स्यात्कार के अर्थ की उसी प्रकार प्रतिपत्ति होती है जिस प्रकार कि 'कथञ्चित्ते सदेवेष्टम्'[3] इस वाक्य में 'कथञ्चित्' वचन से स्यात्पद का प्रयोग जाना जाता है। इसी प्रकार लोक में 'घटं आनय' (घड़ा लाओ) इत्यादि वाक्यों में जो 'स्यात्' शब्द का अप्रयोग है वह उसी प्रतिज्ञाशय को लेकर सिद्ध है।

इस प्रकार हे जिनश्रेष्ठ वीर भगवन्! आपकी दृष्टि (नागदृष्टिसम अनेकान्त) दूसरों के (सर्वथा एकान्तवादियों के) द्वारा अप्रधृष्या (अबाधितविषया) है और साथ ही परधर्षिणी भी है - दूसरे भावैकान्तादि-वादियों की दृष्टि की धर्षणा (तिरस्कृति) करने वाली है, अर्थात् उनके सर्वथा एकान्तरूप से मान्य सिद्धान्तों को बाधा पहुँचाने वाली है।

---

2. **'आप्तमीमांसा'**, कारिका 15

3. **'आप्तमीमांसा'**, कारिका 14

स्याद्वाद के सात विकल्प अर्थात् सप्तभंगी का निरूपण-

विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च
त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी
स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥४५॥

अन्वयार्थ - [**विधिः**] विधि, [**निषेधः**] निषेध [**च**] और [**अनभिलाप्यता**] अनभिलाप्यता (अवक्तव्यता) - ये [**एकशः**] एक-एक करके (पद के) [**त्रिः**] तीन मूल विकल्प हैं। (इनके विपक्षभूत धर्म की संधि-संयोजना रूप से) [**द्विशः**] द्विसंयोजक [**त्रिः**] तीन विकल्प होते हैं। और [**त्रयः**] त्रिसंयोजक [**एक एव**] एक ही विकल्प है। इस तरह से [**अमी**] ये [**सप्तधा**] सात [**विकल्पाः**] विकल्प, हे वीर जिन! [**सकले**] सम्पूर्ण [**अर्थभेदे**] अर्थभेद में [**तव**] आपके यहाँ घटित होते हैं और ये सब विकल्प [**स्यात्शब्दनेयाः**] 'स्यात्' शब्द के द्वारा नेय हैं (नेतृत्व को प्राप्त हैं)।

विधि, निषेध और अनभिलाप्यता (अवक्तव्यता), ये एक-एक करके (पद के) तीन मूल विकल्प हैं। 'स्यादस्त्येव' यह विधि है। 'स्यान्नास्त्येव' यह निषेध है। 'स्यादनभिलाप्यमेव' अथवा 'स्यादवक्तव्यमेव' यह अर्थजात अनभिलाप्यता (अवक्तव्यता) है।

इनके विपक्षभूत धर्म की संधि-संयोजना रूप से द्विसंयोजक तीन विकल्प होते हैं- 'स्यादस्ति-नास्त्येव', 'स्यादस्त्यवक्तव्यमेव' और 'स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव'।

और त्रिसंयोजक एक ही विकल्प है- 'स्यादस्ति-नास्त्यवक्तव्यमेव'।

इस तरह से ये सात विकल्प, हे वीर जिन! सम्पूर्ण अर्थभेद में (सम्पूर्ण जीवादितत्त्वार्थ-पर्यायों में, न कि किसी एक पर्याय में) आपके यहाँ (आपके शासन में) घटित होते हैं, क्योंकि 'प्रतिपर्यायं सप्तभङ्गी' यह आपके शासन का वचन है, दूसरे सर्वथा एकान्तवादियों के शासन में यह बनता ही नहीं।

ये सब विकल्प 'स्यात्' शब्द के द्वारा नेय हैं, नेतृत्व को प्राप्त हैं। अर्थात् एक विकल्प के

साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होने से शेष छहों विकल्प उसके द्वारा गृहीत होते हैं, उनके पुन: प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि स्यात्पद के साथ में रहने से उनके अर्थविषय में विवाद का अभाव होता है। जहाँ कहीं विवाद हो वहाँ उनके क्रमश: प्रयोग में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक प्रतिपाद्य के भी सप्त प्रकार की विप्रतिपत्तियों का सद्‌भाव होता है अर्थात् उतने ही संशय उत्पन्न होते हैं, उतनी ही जिज्ञासाओं की उत्पत्ति होती है और उतने ही प्रश्नवचनों की प्रवृत्ति होती है और प्रश्न के वश से एक वस्तु में अविरोध रूप से विधि-निषेध की जो कल्पना है उसी का नाम सप्तभङ्गी[1] है। अत: नाना प्रतिपाद्यजनों की तरह एक प्रतिपाद्यजन के लिये भी प्रतिपादन करने वालों का सप्त-विकल्पात्मक वचन विरुद्ध नहीं ठहरता है।

यहाँ यह शंका होना स्वाभाविक है कि वस्तु में सात ही भंग क्यों होते हैं। इसका उत्तर यह है कि वस्तु में सात प्रकार के प्रश्न होते हैं, इसलिए 'प्रश्नवशात्' (देखें, फुटनोट) ऐसा कहा है। सात प्रकार के प्रश्न होने का कारण यह है कि वस्तु में सात प्रकार की जिज्ञासा होती है। सात प्रकार की जिज्ञासा होने का कारण सात प्रकार का संशय है और सात प्रकार का संशय इसलिए होता है कि संशय का विषयभूत धर्म सात प्रकार का है। प्रत्येक वस्तु में नय की अपेक्षा से सात भंग होते हैं। सात से कम या अधिक भंग नहीं हो सकते, क्योंकि नय वाक्य सात ही होते हैं।

सप्तभंग निम्न प्रकार से भी होते हैं-

1. विधिकल्पना (ब्रह्माद्वैतवादी का कहना है कि विधिकल्पना ही सत्य है और प्रतिषेधकल्पना मिथ्या है।) 2. प्रतिषेधकल्पना (अभाववादी मात्र प्रतिषेध्य कल्पना को ही सत्य कहता है।) 3. क्रम से विधि-प्रतिषेधकल्पना (वैशेषिक मानते हैं कि विधिवाक्य और निषेधवाक्य ये दोनों वाक्य ही सत्य हैं, अन्य वाक्य ठीक नहीं हैं।) 4. एक साथ विधि-प्रतिषेधकल्पना (अवक्तव्य) 5. विधिकल्पना के साथ, एक साथ विधि-प्रतिषेधकल्पना 6. प्रतिषेधकल्पना के साथ, एक साथ विधि-प्रतिषेधकल्पना और 7. क्रम से विधि-प्रतिषेधकल्पना के साथ, एक साथ विधि-प्रतिषेधकल्पना। (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 14, पृ. 151-152)

---

1. **'प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधविकल्पना सप्तभङ्गी'** अर्थात् प्रश्न के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधि-प्रतिषेध धर्मों की कल्पना सप्तभंगी है। (देखें, **'तत्त्वार्थवार्तिकम् (राजवार्तिकम्)'**, अध्याय 1, सूत्र 6, वार्तिक 5)

'स्यात्' के प्रयोग से ही अनेकान्तात्मक वस्तु की सिद्धि होती है-

स्यादित्यपि स्याद्गुणमुख्यकल्पै-
कान्तो यथोपाधिविशेषवीक्ष्यः ।
तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं
द्विधा भवार्थव्यवहारवत्त्वात् ।।४६।।

अन्वयार्थ - [**स्यात्**] 'स्यात्' [**इत्यपि**] यह शब्द भी [**गुण-मुख्य-कल्पैकान्तः**] गुण (गौण) और मुख्य स्वभावों के द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तों को लिये हुए [**स्यात्**] होता है, [**यथोपाधि विशेषवीक्ष्यः**] क्योंकि वह यथोपाधि (विशेषणानुसार) विशेष का द्योतक होता है। [**तत्त्वं**] तत्त्व [**तु**] तो [**अशेषरूपं**] सम्पूर्ण रूप से [**अनेकान्तम्**] अनेकान्त है (अनेकान्तात्मक है) और [**द्विधा**] वह तत्त्व दो प्रकार से व्यवस्थित है, [**भवार्थ-व्यवहारवत्त्वात्**] एक भवार्थवान् होने से और दूसरा व्यवहारवान् होने से।

'स्यात्' शब्द भी गुण (गौण) और मुख्य स्वभावों के द्वारा कल्पित किये हुए एकान्तों को लिये हुए होता है (नयों के आदेश से), अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता से अस्तित्व-एकान्त मुख्य है, शेष नास्तित्वादि-एकान्त गौण हैं, क्योंकि प्रधानभाव से वे विवक्षित नहीं होते और न उनका निराकरण ही किया जाता है। इसके सिवाय, ऐसा अस्तित्व गधे के सींग की तरह असम्भव है जो नास्तित्वादि धर्मों की अपेक्षा नहीं रखता हो। 'स्यात्' शब्द प्रधान तथा गौणरूप से ही उनका द्योतन करता है अर्थात् जिस पद अथवा धर्म के साथ वह प्रयुक्त होता है उसे प्रधान और शेष पदान्तरों अथवा धर्मों को गौण बतलाता है, यह उसकी शक्ति है। व्यवहारनय के आदेश (प्राधान्य) से नास्तित्वादि-एकान्त मुख्य हैं और अस्तित्व-एकान्त गौण है, क्योंकि प्रधानभाव से वह तब विवक्षित नहीं होता और न उसका निराकरण ही किया जाता है। अस्तित्व का सर्वथा निराकरण करने पर नास्तित्वादि धर्म बनते ही नहीं, जैसे कछुए के रोम। नास्तित्वादि धर्मों के द्वारा अपेक्षमान जो वस्तु का अस्तित्व धर्म है वह 'स्यात्' शब्द के द्वारा द्योतन किया

जाता है। इस तरह 'स्यात्' नाम का निपात प्रधान तथा गौणरूप से जो कल्पना करता है वह शुद्ध (सापेक्ष) नय के आदेशरूप सम्यक् एकान्त से करता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि वह यथोपाधि (विशेषणानुसार) विशेष का (धर्मभेद अथवा धर्मान्तर का) द्योतक होता है, जिसका वस्तु में सद्भाव पाया जाता है।

यहाँ पर किसी को यह शंका नहीं करनी चाहिये कि जीवादि तत्त्व भी तब प्रधान तथा गौणरूप एकान्त को प्राप्त हो जाता है। तत्त्व तो सम्पूर्ण रूप से अनेकान्त है (अनेकान्तात्मक है) और वह अनेकान्त भी अनेकान्तरूप है, एकान्तरूप नहीं। एकान्त तो उसे नय की अपेक्षा से कहा जाता है, प्रमाण की अपेक्षा से नहीं, क्योंकि प्रमाण सकलरूप होता है, विकलरूप नहीं। विकलरूप तत्त्व का एकदेश कहलाता है जो कि नय[1] का विषय है और इसी से सकलरूप तत्त्व प्रमाण का विषय है। कहा भी है– **'सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः'**[2]।

वह तत्त्व दो प्रकार से व्यवस्थित है, एक भवार्थवान् होने से और दूसरा व्यवहारवान् होने से। भवार्थवान् अर्थात् द्रव्यरूप, जिसे सद्द्रव्य तथा विधि भी कहते हैं। व्यवहारवान् अर्थात् पर्यायरूप, जिसे असद्द्रव्य, गुण तथा प्रतिषेध भी कहते हैं। इनसे भिन्न उसका कोई दूसरा प्रकार नहीं है, जो कुछ है वह इन्हीं दो भेदों के अन्तर्भूत है।

---

1. नय का लक्षण– **'प्रमाणेन वस्तु संग्रहीतार्थैकांशो नयः, श्रूतविकल्पो वा, ज्ञातुरभिप्रायो वा नयः, नानास्वभावेभ्यो व्यावृत्य एकस्मिन् स्वभावे वस्तु नयति प्राप्नोतीति वा नयः।'** (देखें, **'आलापपद्धति'**, सूत्र 181, पृ. 137)

2. जो वचन कालादिक की अपेक्षा अभेदवृत्ति की प्रधानता से या अभेदोपचार से प्रमाण के द्वारा स्वीकृत अनन्त धर्मात्मक वस्तु का एक साथ कथन करता है उसे सकलादेश कहते हैं। और जो वचन कालादिक की अपेक्षा भेदवृत्ति की प्रधानता से या भेदोपचार से नय के द्वारा स्वीकृत वस्तु–धर्म का क्रम से कथन करता है उसे विकलादेश कहते हैं। प्रमाण सकलादेशी होता है और नय विकलादेशी। (देखें, **'सर्वाथसिद्धि'**, पृ. 16)

स्याद्वाद वीर शासन में ही अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व का सम्यक् निरूपण संभव है-

न द्रव्यपर्यायपृथग्व्यवस्था
द्वैयात्म्यमेकाऽर्पणया विरुद्धम् ।
धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ
न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ॥४७॥

अन्वयार्थ - [**न द्रव्य-पर्याय-पृथग्व्यवस्था**] न सर्वथा द्रव्य की, न सर्वथा पर्याय की और न सर्वथा प्रथग्भूत (परस्पर निरपेक्ष) द्रव्य-पर्याय (दोनों) की ही कोई व्यवस्था बनती है। यदि [**द्वैयात्म्यं**] सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाये तो यह सर्वथा द्वैयात्म्य [**एकार्पणया**] एक की अर्पणा से [**विरुद्धम्**] विरुद्ध पड़ता है। किन्तु (हे वीर जिन!) [**ते**] आपके [**अभिमतौ**] मत में [**धर्मी च धर्मः च**] ये धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) [**मिथः**] परस्पर में [**त्रिधा इमौ**] असर्वथारूप से तीन प्रकार - भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाऽभिन्न - माने गये हैं और (इसलिये) [**न सर्वथा विरुद्धौ**] सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं।

सर्वथा द्रव्य की ('द्रव्यमेव' - इस द्रव्यमात्रात्मक एकान्त की) कोई व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि सम्पूर्ण पर्यायों से रहित द्रव्यमात्र-तत्त्व प्रमाण का विषय नहीं है; प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण से वह सिद्ध नहीं होता अथवा जाना नहीं जा सकता। न सर्वथा पर्याय की ('पर्याय एव' - इस पर्यायमात्रात्मक एकान्त की) कोई व्यवस्था बनती है, क्योंकि द्रव्य-एकान्त की तरह द्रव्य से रहित पर्यायमात्र-तत्त्व भी किसी प्रमाण का विषय नहीं है। और न सर्वथा प्रथग्भूत (परस्पर निरपेक्ष) द्रव्य-पर्याय (दोनों) की ही कोई व्यवस्था बनती है, क्योंकि उसमें भी प्रमाणाभाव की दृष्टि से कोई विशेष नहीं है, वह भी सकल प्रमाणों के अगोचर है।

द्रव्यमात्र की, पर्यायमात्र की तथा प्रथग्भूत द्रव्य-पर्यायमात्र की कोई व्यवस्था न बन सकने से यदि सर्वथा द्वयात्मक एक तत्त्व माना जाये तो यह सर्वथा द्वैयात्म्य एक की अर्पणा से विरुद्ध पड़ता है। सर्वथा एकत्व के साथ द्वयात्मकता बनती ही नहीं, क्योंकि जो द्रव्य की

प्रतीति का हेतु है और जो पर्याय की प्रतीति का निमित्त है वे दोनों यदि परस्पर में भिन्नात्मा हैं तो कैसे तदात्मक एक तत्त्व व्यवस्थित होता है? नहीं होता, क्योंकि अभिन्न का भिन्न-भिन्न आत्माओं के साथ एकत्व का विरोध है। जब वे दोनों आत्माएँ एक से अभिन्न हैं तब भी एक ही अवस्थित होता है, क्योंकि सर्वथा एक से अभिन्न उन दोनों के एकत्व की सिद्धि होती है, न कि द्वैयात्म्य (द्वयात्मकता) की, जो कि एकत्व से विरुद्ध है। कौन ऐसा अमूढ़ (समझदार) होगा जो प्रमाण को अंगीकार करता हुआ एक वस्तु के दो भिन्न आत्माओं की अर्पणा (विवक्षा) करे? मूढ़ (मूर्ख) के सिवाय दूसरा कोई नहीं कर सकता। अतः द्वयात्मक तत्त्व सर्वथा एकार्पणा के (एक तत्त्व की मान्यता के) साथ विरुद्ध ही है, ऐसा मानना चाहिये।

किन्तु, हे वीर जिन! आपके मत में (स्याद्वाद शासन में) ये धर्मी (द्रव्य) और धर्म (पर्याय) दोनों असर्वथारूप से तीन प्रकार - भिन्न, अभिन्न तथा भिन्नाऽभिन्न - माने गये हैं और (इसलिये) सर्वथा विरुद्ध नहीं हैं। क्योंकि सर्वथारूप से तीन प्रकार माने जाने पर भी ये प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध ठहरते हैं और विरुद्धरूप में आपको अभिमत नहीं हैं। अतः स्यात्पदात्मक वाक्य न तो धर्ममात्र का प्रतिपादन करता है, न धर्मीमात्र का, न धर्म-धर्मी दोनों को सर्वथा अभिन्न प्रतिपादन करता है, न सर्वथा भिन्न और न सर्वथा भिन्नाऽभिन्न, क्योंकि ये सब प्रतीति के विरुद्ध हैं और इससे द्रव्य-एकान्त की, पर्याय-एकान्त की, तथा परस्पर निरपेक्ष प्रथग्भूत द्रव्य-पर्याय-एकान्त की व्यवस्था न बन सकने का समर्थन होता है। द्रव्यादि के सर्वथा एकान्त में युक्त्यनुशासन घटित नहीं होता।[1]

धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्ध्यत्यन्योऽन्यवीक्षया ।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥७५॥ ('आप्तमीमांसा')

धर्म और धर्मी का अविनाभाव सम्बन्ध ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है, उनका स्वरूप नहीं। स्वरूप तो कारक और ज्ञापक के अंगो की तरह स्वतः सिद्ध है। (कारक के

1. धर्मी जीवादि वस्तु में अनन्त धर्म रहते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्म वाली होती है। किन्तु वे धर्म धर्मी से न तो सर्वथा भिन्न ही होते हैं न सर्वथा अभिन्न ही होते हैं, बल्कि कथञ्चित भिन्न और कथञ्चित अभिन्न होते हैं। उन धर्मों में से किसी एक धर्म के प्रधान होने पर 'स्यात्' शब्द से सूचित अन्य धर्म गौण हो जाते हैं। इस तरह गौणता और मुख्यता से वस्तु के धर्मों की विवक्षा होती है या विवक्षा से धर्मों को गौणता और मुख्यता प्राप्त होती है; धर्म भी परस्पर में सर्वथा भिन्न नहीं होते। नय दृष्टि से ही उनमें भेद की प्रतीति होती है। (देखें, **'णयचक्को'**, पृ. 131)

दो अंग कर्ता और कर्म तथा ज्ञापक के दो अंग प्रमाण और प्रमेय ये अपने-अपने स्वरूप के विषय में दूसरे अंग की अपेक्षा नहीं रखते हैं। व्यवहार के लिए पारस्परिक अपेक्षा आवश्यक है, स्वरूप के लिए नहीं।)

धर्मी के बिना धर्म नहीं रह सकता है और धर्म के बिना कोई धर्मी नहीं कहा जा सकता है। यह धर्म और धर्मी का अविनाभाव है। सामान्य और विशेष में भी अविनाभाव ही परस्पर सापेक्ष है, स्वरूप नहीं। सामान्य के स्वरूप के लिए विशेष की अपेक्षा नहीं होती है और विशेष के स्वरूप के लिए सामान्य की अपेक्षा नहीं होती है। कारक के अंग कर्ता और कर्म हैं। ज्ञापक के अंग प्रमाण और प्रमेय हैं। कर्ता और कर्म परस्पर सापेक्ष भी हैं और निरपेक्ष भी। कर्ता अपने स्वरूप के लिए कर्म की अपेक्षा नहीं रखता है और कर्म अपने स्वरूप के लिए कर्ता की अपेक्षा नहीं रखता है। यही बात प्रमाण-प्रमेय, धर्म-धर्मी आदि के विषय में है।

इसलिए धर्म-धर्मी आदि की सत्ता- 1. कथंचित् आपेक्षिक है, 2. कथंचित् अनापेक्षिक है, 3. कथंचित् उभयरूप है, 4. कथंचित् अवक्तव्य है, 5. कथंचित् आपेक्षिक और अवक्तव्य है, 6. कथंचित् अनापेक्षिक और अवक्तव्य है, तथा 7. कथंचित् उभय और अवक्तव्य है। (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका',** कारिका 75, पृ. 260)

सप्तम परिच्छेद (४८-६०)

स्याद्वाद शासन ही सर्वमान्य : युक्त्यनुशासन

वीर शासन की 'युक्त्यनुशासन' ही सार्थक संज्ञा है-

दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थ-
प्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।
प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्म-
तत्त्वव्यवस्थं सदिहाऽर्थरूपम् ॥४८॥

अन्वयार्थ - [**दृष्टागमाभ्यां**] प्रत्यक्ष (दृष्ट) और आगम से [**अविरुद्धं**] अविरोधरूप अर्थ (वस्तु) का जो [**अर्थप्ररूपणं**] अर्थ (वस्तु) से प्ररूपण है उसे [**युक्त्यनुशासनं**] युक्त्यनुशासन कहते हैं और वही [**ते**] (हे वीर भगवन्!) आपको अभिमत है। [**इह**] यहाँ [**अर्थरूपं**] अर्थ (वस्तु) का रूप [**प्रतिक्षणं**] प्रतिक्षण [**स्थित्युदय-व्ययात्मतत्त्व-व्यवस्थं**] स्थिति (ध्रौव्य), उदय (उत्पाद) और व्यय (नाश) रूप तत्त्व-व्यवस्था को लिये हुए है, क्योंकि वह [**सत्**] सत् है।

प्रत्यक्ष (दृष्ट) और आगम से अविरोधरूप (अबाधित विषयस्वरूप) अर्थ (वस्तु) का जो अर्थ से प्ररूपण है, उसे युक्त्यनुशासन (युक्ति-वचन) कहते हैं और वही (हे वीर भगवन्!) आपको अभिमत है। दृष्ट प्रत्यक्ष है और आप्तवचन आगम है। इन दोनों से अविरुद्ध (अबाधित) विषय जो साधनरूप अर्थ से साध्यरूप अर्थ का प्रतिपादन है अर्थात् निश्चय लक्षण स्वरूप अन्यथानुपपत्ति[1] नियम से साधन रूप अर्थ से साध्य रूप अर्थ का

---

1. अन्यथानुपपत्ति हेतु - अन्यथा+अनुपपत्ति; अर्थात् अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती। इसमें व्यतिरेक व्याप्ति दिखाई जाती है - साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाना अन्यथानुपपत्ति है। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, 3 : 90, पृ. 145-146)
उदाहरण - यह प्रदेश अग्नि वाला है (-प्रतिज्ञा) क्योंकि अग्नि वाला नहीं होने पर धूम वाला (-हेतु) अन्यथा हो नहीं सकता; इसमें व्यतिरेक व्याप्ति घटित हुई।

प्ररूपण युक्त्यनुशासन है।

यहाँ युक्त्यनुशासन का एक उदाहरण इस प्रकार है कि अर्थ का रूप प्रतिक्षण (प्रत्येक समय में) स्थिति (ध्रौव्य), उदय (उत्पाद) और व्यय (नाश) रूप तत्त्व-व्यवस्था को लिये हुए है, क्योंकि वह [सत्] सत् है।

इस युक्त्यनुशासन में जो पक्ष है वह प्रत्यक्ष के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि अर्थ का ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूप जिस प्रकार बाह्य घटादिक पदार्थों में अनुभव किया जाता है उसी तरह आत्मादि आभ्यन्तर पदार्थों में भी उसका साक्षात् अनुभव होता है। उत्पादमात्र तथा व्ययमात्र की तरह स्थितिमात्र का (सर्वथा ध्रौव्य का) सर्वत्र अथवा कहीं भी साक्षात्कार नहीं होता और अर्थ (वस्तु) के इस ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक रूप का अनुभव, बाधक प्रमाण का अभाव सुनिश्चित होने से अनुपपन्न नहीं है, उपपन्न है अर्थात् ऐसी उम्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तु प्रतीति में आती है। कालान्तर में ध्रौव्योत्पादव्यय का दर्शन होने से उसकी प्रतीति सिद्ध होती है, अन्यथा खर-विषाणादि की तरह एक बार भी उसका योग नहीं बनता। अत: प्रत्यक्ष-विरोध नहीं है।

आगम-विरोध भी इस युक्त्यनुशासन के साथ घटित नहीं हो सकता, क्योंकि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।'[2]- यह परमागम-वचन प्रसिद्ध है। सर्वथा एकान्तरूप आगम दृष्ट (प्रत्यक्ष) तथा इष्ट (अनुमान) के विरुद्ध अर्थ का अभिधायी (वाचक) होने से ठग-पुरुष के वचन की तरह प्रसिद्ध अथवा प्रमाण नहीं है और इसलिये पक्ष निर्दोष है। इसी तरह सत्रूप साधन भी असिद्धादि[3] दोषों से रहित है। अत: 'अर्थ का रूप प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक है, सत् होने से,' यह युक्त्यनुशासन का उदाहरण समीचीन है।

---

2. **'तत्त्वार्थसूत्र'**, 5 : 30

3. असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चितकर हेत्वाभास हैं।
जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो अथवा निश्चय न हो उसे असिद्ध-हेत्वाभास कहते हैं। अविद्यमान सत्ता वाला हेतु स्वरूपासिद्ध-हेत्वाभास है; जैसे 'शब्द परिणामी (अनित्य) है चाक्षुष होने से'। शब्द के लिये चाक्षुष हेतु स्वरूप से ही असिद्ध है। और पक्ष में जिस हेतु का निश्चय न हो उसे संदिग्धासिद्ध-हेत्वाभास कहते हैं; जैसे अजान व्यक्ति से यह कहना कि 'यहाँ अग्नि है, धूम होने से'। उस व्यक्ति के लिये यह धूमहेतु संदिग्धासिद्ध-हेत्वाभास है। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, 6 : 21-25)
साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो उसे विरुद्ध-हेत्वाभास कहते हैं; जैसे 'शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है'। यहाँ अपरिणामित्व साध्य है परन्तु कृतकत्व हेतु उसके साथ व्याप्ति नहीं रखता; उससे विपरीत परिणामीपने के साथ व्याप्ति रखता

इस तरह तो यह फलित हुआ कि एक ही वस्तु नाना-स्वभाव को प्राप्त है, जो कि विरुद्ध है। तब उसकी सिद्धि कैसे होती है? इसका स्पष्टीकरण अगली कारिका में दिया गया है।

है। (**'परीक्षामुखसूत्र'**, 6 : 29)

विपक्ष में भी अविरुद्ध प्रवृत्ति वाला अनैकान्तिक-हेत्वाभास है; जैसे 'शब्द अनित्य है प्रमेय होने से, घट के समान'। यहाँ अनैकान्तिक-हेत्वाभास है, क्योंकि 'प्रमेय'-हेतुत्व का निश्चय 'नित्य' आकाशरूप विपक्ष में भी होता है। (**'परीक्षामुखसूत्र'**, 6 : 31-32)

साध्य के होने पर अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर हेतु अकिञ्चितकर होता है; जैसे 'शब्द कर्ण इन्द्रिय का विषय होता है, इसलिये सिद्ध है, शब्द होने से'। शब्द को कर्ण इन्द्रिय का विषय सिद्ध करने के लिये 'शब्दत्व' का हेतु देना अकिञ्चितकर-हेत्वाभास है। (**'परीक्षामुखसूत्र'**, 6 : 35-36)

एकानेक रूप वस्तु की सिद्धि-

नानात्मतामप्रजहत्तदेक-
मेकात्मतामप्रजहच्च नाना ।
अङ्गाङ्गिभावात्तव वस्तु तद्यत्
क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ॥४९॥

अन्वयार्थ - (हे वीर जिन!) [**तव**] आपके शासन में जो [**वस्तु**] जीवादि वस्तु [**एकम्**] एक है (सत्वरूप एकत्व-प्रत्यभिज्ञान का विषय होने से) [**तद् नानात्मताम्**] वह (समीचीन नाना-ज्ञान का विषय होने से) नानात्मता (अनेकरूपता) का [**अप्रजहत्**] त्याग न करती हुई ही वस्तुतत्त्व को प्राप्त होती है। [**च**] और (इसी तरह) जो वस्तु (अबाधित नाना-ज्ञान का विषय होने से) [**नाना**] नानात्मक प्रसिद्ध है वह [**एकात्मताम्**] एकात्मता को [**अप्रजहत्**] न छोड़ती हुई ही वस्तुस्वरूप से अभिमत है। [**यत् अनन्तरूपम्**] वस्तु जो अनन्तरूप है, [**तत्**] वह [**अङ्गाङ्गिभावात्**] अङ्ग-अङ्गी भाव के कारण (गुण-मुख्य की विवक्षा को लेकर) [**क्रमेण**] क्रम से [**वाग्वाच्यम्**] वचन-गोचर है।

हे वीर जिन! आपके शासन में जो जीवादि वस्तु एक है (सत्वरूप एकत्व-प्रत्यभिज्ञान[1] का विषय होने से) वह (समीचीन नाना-ज्ञान का विषय होने से) नानात्मता (अनेकरूपता) का त्याग न करती हुई ही वस्तुतत्त्व को प्राप्त होती है। जो नानात्मता का त्याग करती है वह वस्तु ही नहीं, जैसे कि दूसरों के द्वारा परिकल्पित ब्रह्माद्वैत[2] आदि। इसी तरह आपके मत में जो वस्तु (अबाधित नाना-ज्ञान का विषय होने से) नानात्मक

---

1. वर्तमान में पदार्थ का दर्शन और पूर्व में देखे हुए का स्मरण जिसमें कारण हो ऐसे संकलन अर्थात् जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे- 'यह वही है', यह एकत्व-प्रत्यभिज्ञान है। (देखें, '**प्रमेयरत्नमाला**', 3 : 5, पृ. 113)

2. मीमांसक-वेदान्तवादी।

प्रसिद्ध है वह एकात्मता को न छोड़ती हुई ही वस्तुस्वरूप से अभिमत है। अन्यथा उसके वस्तुत्व नहीं बनता, जैसे कि दूसरों के द्वारा अभिमत निरन्वय नानाक्षणरूप[3] वस्तु। अतः जीवादि पदार्थों की सत्ता अपने एक-अनेक गुण का त्याग न करने की वृत्ति से एक और अनेक स्वभावरूप है; वस्तुत्व की यह अन्यथानुपपत्ति है और यह युक्त्यनुशासन है।

इस प्रकार की वस्तु वचन के द्वारा कैसे कही जा सकती है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि वस्तु जो अनन्तरूप है, वह अङ्ग-अङ्गी भाव के कारण (गुण-मुख्य की विवक्षा को लेकर) क्रम से वचन-गोचर है। वह युगपत् (एक साथ) एक रूप से और अनेक रूप से वचन के द्वारा कही ही नहीं जा सकती क्योंकि वचन में वैसी शक्ति ही नहीं है और इस तरह क्रम से प्रवर्तमान वचन वस्तुरूप (सत्य) होता है। उसके असत्यत्व का प्रसंग नहीं आता क्योंकि उसकी अपने नानात्व और एकत्व विषय में अङ्ग-अङ्गी भाव से प्रवृत्ति होती है। जैसे 'स्यादेकमेव वस्तु' इस वचन के द्वारा प्रधानभाव से एकत्व वाच्य है और गौणरूप से अनेकत्व; 'स्यादनेकमेव वस्तु' इस वचन के द्वारा प्रधानभाव से अनेकत्व वाच्य है और गौणरूप से एकत्व वाच्य है। इस तरह के एकत्व और अनेकत्व वचन के कैसे असत्यता हो सकती है? नहीं हो सकती है। प्रत्युत इसके, सर्वथा एकत्व के वचन द्वारा अनेकत्व का निराकरण होता है और अनेकत्व का निराकरण होने पर उसके अविनाभावी[4] एकत्व के भी निराकरण होने का प्रसंग उपस्थित होने से असत्यत्व की परिप्राप्ति अभीष्ट ठहरती है, क्योंकि वैसी उपलब्धि नहीं है और सर्वथा अनेकत्व के वचन द्वारा एकत्व का निराकरण होता है और एकत्व का निराकरण होने पर उसके अविनाभावी अनेकत्व के भी निराकरण होने का प्रसंग उपस्थित होने से सत्यत्व का विरोध होता है। इसलिये अनन्त धर्मरूप जो वस्तु है उसे अङ्ग-अङ्गी (अप्रधान-प्रधान) भाव के कारण क्रम से वाग्वाच्य (वचन-गोचर) समझना चाहिये।

---

3. बौद्ध क्षणिकवादी।

4. अविनाभाव - सहभाव नियम और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं। सहचारी और व्याप्य-व्यापक पदार्थों में सहभाव नियम होता है। जैसे सहचारी रूप और रस में अथवा व्याप्य-व्यापक वृक्षत्व और शिंशपात्व में सहभाव नियम होता है। पूर्वचर और उत्तरचर तथा कार्य और कारण में क्रमभाव नियम होता है। कृत्तिका नक्षत्र का उदय और उसके एक मुहूर्त पीछे शकट (रोहिणी) नक्षत्र का उदय, यह पूर्वचर और उत्तरचर नियम कहलाता है। अग्नि कारण है और धूम उसका कार्य है; यह कार्य और कारण क्रमभाव नियम कहलाता है। (देखें, **'प्रमेयरत्नमाला'**, 3 : 12-14, पृ. 122-123)

सापेक्ष नयों से वस्तु तत्त्व की सिद्धि–

मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतु–
र्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः ।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतु–
र्दृष्टा नयास्तद्वदसिक्रियायाम् ॥५०॥

अन्वयार्थ – [**अंशाः**] जो अंश (धर्म अथवा वस्तु के अवयव) [**मिथोऽनपेक्षाः**] परस्पर–निरपेक्ष हैं वे [**पुरुषार्थहेतुः**] पुरुषार्थ के हेतु [**न**] नहीं हो सकते; [**च**] और [**अंशी**] अंशी (धर्मी अथवा अवयवी) [**तेभ्यः**] उन अंशो से (धर्मों अथवा अवयवों से) [**पृथक् न अस्ति**] पृथक् नहीं है। [**तद्वत्**] अंश–अंशी की तरह [**परस्परेक्षाः**] परस्पर–सापेक्ष [**नयाः**] नय (नैगमादिक) [**असिक्रियायाम्**] असिक्रिया (होने / सत्ता अर्थ) में [**पुरुषार्थहेतुः**] पुरुषार्थ के हेतु हैं, क्योंकि (उस रूप में) [**दृष्टाः**] देखे जाते हैं।

वस्तु को अनन्तधर्मविशिष्ट मानकर यदि यह कहा जाये कि वे धर्म परस्पर–निरपेक्ष ही हैं और धर्मी उनसे पृथक् ही है तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जो अंश (धर्म अथवा वस्तु के अवयव) परस्पर–निरपेक्ष हैं वे पुरुषार्थ के हेतु नहीं हो सकते। कारण कि वे उस रूप में उपलभ्यमान (प्राप्य) नहीं हैं और जो जिस रूप में उपलभ्यमान नहीं वह उस रूप में व्यवस्थित भी नहीं होता। जैसे अग्नि शीतता के साथ उपलभ्यमान नहीं है तो वह शीततारूप में व्यवस्थित भी नहीं होती। परस्पर–निरपेक्ष सत्वादिक धर्म अथवा अवयव पुरुषार्थहेतुतारूप से उपलभ्यमान नहीं हैं, अतः पुरुषार्थ–हेतुरूप से व्यवस्थित नहीं होते। यह युक्त्यनुशासन प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध है।

जो अंश (धर्म अथवा वस्तु के अवयव) परस्पर–सापेक्ष हैं वे पुरुषार्थ के हेतु हैं, कारण कि वे उस रूप में देखे जाते हैं; जो जिस रूप में देखे जाते हैं वे उसी रूप में व्यवस्थित होते हैं। जैसे दहन (अग्नि) दहनता के रूप में देखी जाती है और इसलिये तद्रूप में व्यवस्थित होती है। परस्पर–सापेक्ष अंश स्वभावतः पुरुषार्थहेतुतारूप से देखे जाते हैं और

इसलिये पुरुषार्थ-हेतुरूप से व्यवस्थित हैं। यह स्वभाव की उपलब्धि है।

इसी तरह अंशी (धर्मी अथवा अवयवी) अंशो से (धर्मों अथवा अवयवों से) पृथक् नहीं है। कारण यह है कि वह उस रूप में उपलभ्यमान नहीं है। जो जिस रूप में उपलभ्यमान नहीं वह उसमें नास्तिरूप ही है; जैसे अग्नि शीततारूप से उपलभ्यमान नहीं है, अतः शीततारूप से उसका अभाव है। यह स्वभाव की अनुपलब्धि है। इसमें प्रत्यक्षतः कोई विरोध नहीं है, क्योंकि परस्पर विभिन्न पदार्थों सह्याचल और विन्ध्याचलादि जैसों के अंश-अंशी भाव का दर्शन नहीं होता। आगम-विरोध भी इसमें नहीं है, क्योंकि परस्पर विभिन्न पदार्थों के अंश-अंशी भाव का प्रतिपादन करने वाले आगम का अभाव है, और जो आगम परस्पर विभिन्न पदार्थों के अंश-अंशी भाव का प्रतिपादक है वह युक्ति-विरुद्ध होने से आगमाभास सिद्ध है।

अंश-अंशी की तरह परस्पर-सापेक्ष नय (नैगमादिक) भी (सत्तालक्षणा) असिक्रिया (सत्ता अर्थ क्रिया) में पुरुषार्थ के हेतु हैं, क्योंकि उस रूप में देखे जाते हैं; उपलभ्यमान हैं। इससे स्थितिग्राहक द्रव्यार्थिक नय के भेद (नैगम, संग्रह, व्यवहार) और प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय के ग्राहक पर्यायार्थिक नय के भेद (ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत)[1] ये सब परस्पर में सापेक्ष होते हुए ही वस्तु का जो साध्य अर्थक्रिया-लक्षण-पुरुषार्थ है उसके निर्णय के हेतु हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार प्रत्यक्ष और आगम से अविरुद्ध जो अर्थ का प्ररूपण सत्रूप है वह सब प्रतिक्षण ध्रौव्योत्पादव्ययात्मक है; अन्यथा सत्पना बनता ही नहीं। इस प्रकार युक्त्यनुशासन को उदाहृत जानना चाहिये।

---

1. **'नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ।'** (**'तत्त्वार्थसूत्र'**, 1 : 33)

अनेकान्तात्मक वस्तु तत्त्व का निश्चय ही सम्यग्दर्शन-

एकान्तधर्माऽभिनिवेशमूला
रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।
एकान्तहानाच्च स यत्तदेव
स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥५१॥

अन्वयार्थ - वे [**रागादयः**] राग-द्वेषादिक (मन की समता का निराकरण करने वाले) [**एकान्त-धर्माऽभिनिवेशमूलाः**] एकान्तधर्माभिनिवेशमूलक होते हैं [एकान्त-रूप से निश्चय किये हुए नित्यत्वादि धर्म में अभिनिवेश (आसक्ति) अर्थात् मिथ्याश्रद्धान उनका मूल कारण होता है और] [**जनानां**] (मोही-मिथ्यादृष्टि) जीवों की [**अहंकृतिजाः**] अहंकृति से (अहंकार तथा उसके साथी ममकार से)[1] वे उत्पन्न होते हैं [**च**] और (सम्यग्दृष्टि जीवों के) [**एकान्तहानात्**] एकान्त की हानि से (एकान्तधर्माभिनिवेश-रूप मिथ्यादर्शन के अभाव से) - [**स**] वह (एकान्तधर्माभिनिवेश) [**यत् स्वाभाविकत्वात्**] उसी अनेकान्त के निश्चयरूप सम्यग्दर्शनत्व को धारण करता है जो आत्मा का स्वाभाविक रूप है। (और चूँकि यह एकान्त-धर्माभिनिवेश का अभावरूप सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वाभाविक रूप है) अतः (हे वीर भगवान्!) [**ते**] आपके यहाँ (आपके युक्त्यनुशासन में) [**तदेव**] ऐसे ही [**समं मनः**] (सम्यग्दृष्टि के) मन का समत्व ठीक घटित होता है।

---

1. **ममकार** और **अहंकार** - मोह के उदय से ममकार और अहंकार होते हैं। जो सदा आत्मा के नहीं हैं और कर्म के उदय से बने हैं ऐसे अपने शरीर वगैरह में '**यह मेरा है**' इस प्रकार का अभिप्राय ममकार है - जैसे 'मेरा शरीर'। जो भाव कर्मजन्य हैं और निश्चय से आत्मा से भिन्न हैं उन्हें अपना मानना अहंकार है - जैसे 'मैं राजा हूँ'। (देखें, '**धर्मामृत अनगार**', पृ. 304)
"ममकाराऽहंकारौ सचिवाविव मोहनीयराजस्य ।
रागादि-सकलपरिकर-परिपोषण-तत्परौ सततम् ॥" (- '**युक्त्यनुशासन**' टीका में उद्धृत्)
'ममकार और अहंकार मोहनीय राजा के सचिव जैसे हैं। ये निरन्तर रागादिरूप अपने समस्त परिवार के पोषण करने में उद्यमशील रहते हैं।'

किन्हीं लोगों का ऐसा मानना है कि जीवादि वस्तु का अनेकान्तात्मकरूप से निश्चय होने पर स्वात्मा की तरह परात्मा में भी राग होता है (दोनों में कथञ्चित् अभेद के कारण) तथा परात्मा की तरह स्वात्मा में भी द्वेष होता है (दोनों में कथञ्चित् भेद के कारण) और राग-द्वेष के कार्य ईर्ष्या, असूया (असहिष्णुता), मद, मायादिक दोष प्रवृत्त होते हैं जो कि संसार के कारण हैं, सकल विक्षोभ (मन की हलचल) के निमित्तभूत हैं तथा स्वर्गाऽपवर्ग के प्रतिबन्धक हैं। वे दोष प्रवृत्त होकर मन के समत्व (समता परिणामों) का निराकरण करते हैं; उसे अपनी स्वाभाविक स्थिति से च्युत कर विषम स्थिति में पटक देते हैं। मन के समत्व का निराकरण समाधि को रोकता है जिससे समाधि-हेतुक निर्वाण किसी के नहीं बन सकता। इसलिये जिनका यह कहना है कि 'मोक्ष के कारण समाधिरूप मन के समत्व की इच्छा रखने वाले को चाहिये कि वह जीवादि वस्तु को अनेकान्तात्मक न माने' वह ठीक नहीं है, क्योंकि वे राग-द्वेषादिक (मन की समता का निराकरण करने वाले) एकान्तधर्माभिनिवेशमूलक होते हैं। एकान्त-रूप से निश्चय किये हुए (नित्यत्वादि) धर्म में अभिनिवेश अर्थात् मिथ्याश्रद्धान उनका मूल कारण होता है।[1] (मोही-मिथ्यादृष्टि) जीवों की अहंकृति से - अहंकार तथा उसके साथी ममकार से - वे उत्पन्न होते हैं, अर्थात् उन अहंकार-ममकार भावों से ही उनकी उत्पत्ति है जो मिथ्यादर्शनरूप मोह-राजा के सहकारी (मन्त्री) हैं, अन्य से नहीं; दूसरे अहंकार-ममकार के भाव उन्हें जन्म देने में असमर्थ हैं। सम्यग्दृष्टि जीवों के एकान्त की हानि से - एकान्ताभिनिवेश-रूप मिथ्यादर्शन के अभाव से - वह (एकान्ताभिनिवेश) उसी अनेकान्त के निश्चयरूप सम्यग्दर्शनत्व को धारण करता है जो आत्मा का स्वाभाविक रूप है, क्योंकि एकान्ताभिनिवेश का जो अभाव है वही उसके विरोधी अनेकान्त के निश्चयरूप सम्यग्दर्शन का सद्भाव है।

यह एकान्ताभिनिवेश का अभावरूप सम्यग्दर्शन आत्मा का स्वाभाविक रूप है, अतः (हे वीर भगवान्!) आपके युक्त्यनुशासन में इस प्रकार ही (सम्यग्दृष्टि के) मन का समत्व ठीक घटित होता है।

वास्तव में दर्शनमोह के उदयरूप मूलकारण के होते हुए चारित्रमोह के उदय में जो रागादिक उत्पन्न होते हैं वे ही जीवों के अस्वाभाविक परिणाम हैं, क्योंकि वे औदयिक भाव हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो परिणाम दर्शनमोह के नाश, चारित्रमोह की

---

1. प्रमाण से अनेकान्तात्मक वस्तु का ही निश्चय होता है और सम्यक् नय से प्रतिपक्ष की अपेक्षा रखने वाले एकान्त का व्यवस्थापन होता है; अतः एकान्ताभिनिवेश का नाम मिथ्यादर्शन या मिथ्याश्रद्धान है, यह प्रायः निर्णीत है।

उदयहानि और रागादि के अभाव से होते हैं वे आत्मरूप होने से जीवों के स्वाभाविक परिणाम हैं, किन्तु पारिणामिक नहीं, क्योंकि पारिणामिक भाव कर्मों के उपशमादि की अपेक्षा नहीं रखते। **ऐसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि के भी स्वानुरूप मनःसाम्य की अपेक्षा मन का सम होना बनता है, क्योंकि उसके संयम का सर्वथा अभाव नहीं होता। अतः अनेकान्तरूप युक्त्यनुशासन रागादिक का निमित्त-कारण नहीं; वह तो मन की समता का निमित्तभूत है।**

बन्ध-मोक्ष की समीचीन सिद्धि अनेकान्त मत से ही संभव-

प्रमुच्यते च प्रतिपक्षदूषी
जिन! त्वदीयैः पटुसिंहनादैः ।
एकस्य नानात्मतया ज्ञवृत्ते-
स्तौ बन्धमोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ॥५२॥

अन्वयार्थ - जो **[प्रतिपक्षदूषी च]** प्रतिपक्षदूषी है (प्रतिद्वन्द्वी का सर्वथा निराकरण करने वाला एकान्तग्रही है) वह तो **[जिन!]** हे वीर जिन! **[त्वदीयैः]** आप (अनेकान्तवादी) के **[एकस्य नानात्मतया]** एकाऽनेकरूपता जैसे **[पटुसिंहनादैः]** पटुसिंहनादों से (निश्चयात्मक एवं सिंहगर्जना की तरह अबाध्य ऐसे युक्ति-शास्त्राऽविरोधी आगमवाक्यों के प्रयोग द्वारा) **[प्रमुच्यते]** प्रमुक्त (अच्छी तरह छुड़ाना) ही किया जाता है। (प्रत्येक वस्तु नानात्मक है, उसका नानात्मकरूप होना निश्चय ही सर्वथा एकान्त का प्रमोचन है।) अतः **[बन्धमोक्षौ]** बन्ध और मोक्ष **[स्वमतात्]** अपने (अनेकान्त) मत से **[अबाह्यौ]** बाह्य नहीं हैं, क्योंकि **[तौ]** वे दोनों (बन्ध और मोक्ष) **[ज्ञवृत्तेः]** ज्ञवृत्ति हैं (अनेकान्तवादियों के द्वारा स्वीकृत ज्ञाता आत्मा में ही उनकी प्रवृत्ति है)।

यदि यह कहा जाये कि अनेकान्तवादी का भी अनेकान्त में राग और सर्वथा एकान्त में द्वेष होने से उसका मन सम नहीं रह सकता और इस कारण मोक्ष भी नहीं बन सकता। मोक्ष के अभाव में बन्ध की कल्पना भी नहीं बनती। अथवा मन का सदा सम रहना मानने पर बन्ध नहीं बनता और बन्ध के अभाव में मोक्ष घटित नहीं हो सकता, जो कि बन्धपूर्वक होता है। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों ही अनेकान्तवादी के स्वमत से बाह्य ठहरते हैं - मन की समता और असमता दोनों ही स्थितियों में उनकी उपपत्ति नहीं बन सकती; तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो प्रतिपक्षदूषी है अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी का सर्वथा निराकरण करने वाला एकान्तग्रही है, वह तो, हे वीर जिन! आप अनेकान्तवादी के एकाऽनेकरूपता जैसे पटुसिंहनादों से अर्थात् निश्चयात्मक एवं सिंहगर्जना की तरह अबाध्य ऐसे युक्ति-

शास्त्राऽविरोधी आगमवाक्यों के प्रयोग द्वारा, प्रमुक्त ही किया जाता है (अच्छी तरह छुड़ाया जाता है), अर्थात् वस्तुतत्त्व का विवेक कराकर अतत्त्वरूप एकान्तग्रह से उसे मुक्ति दिलाई जाती है।

प्रत्येक वस्तु नानात्मक है, उसका नानात्मकरूप से निश्चय ही सर्वथा एकान्त का प्रमोचन (एकान्त से मुक्ति) है। ऐसी दशा में अनेकान्तवादी का एकान्तवादी के साथ कोई द्वेष नहीं हो सकता। अनेकान्तवादी प्रतिपक्ष का भी स्वीकार करने वाला होता है इसलिये स्वपक्ष में उसका सर्वथा राग भी नहीं बन सकता। वास्तव में तत्त्व का निश्चय ही राग नहीं होता, यदि तत्त्व का निश्चय ही राग होवे तो क्षीणमोही के भी राग का प्रसंग आयेगा जो कि असंभव है। न अतत्त्व के व्यवच्छेद को ही द्वेष प्रतिपादित किया जा सकता है, जिसके कारण अनेकान्तवादी का मन सम न रहे। अतः अनेकान्तवादी के मन की समता के निमित्त से होने वाले मोक्ष का निषेध कैसे किया जा सकता है? और मन का समत्व सर्वत्र और सदाकाल नहीं बनता, जिससे राग-द्वेष के अभाव से बन्ध के अभाव का प्रसंग आवे, क्योंकि गुणस्थानों की अपेक्षा से किसी तरह, कहीं पर और किसी समय कुछ पुण्यबन्ध की उपपत्ति पाई जाती है। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों अपने (अनेकान्त) मत से, जो कि अनन्तात्मक तत्त्व विषय को लिये हुए है, बाह्य नहीं हैं। वे दोनों (बन्ध और मोक्ष) ज्ञवृत्ति हैं अर्थात् अनेकान्तवादियों के द्वारा स्वीकृत ज्ञाता आत्मा में ही उनकी प्रवृत्ति है और इसलिये सांख्यों द्वारा स्वीकृत प्रधान (प्रकृति) के अनेकान्तात्मक होने पर भी उसमें वे दोनों घटित नहीं हो सकते, क्योंकि प्रधान (प्रकृति) के अज्ञता होती है, वह ज्ञाता नहीं माना गया है।

सामान्य-विशेषात्मक वस्तु तत्त्व की सिद्धि-

आत्मान्तराऽभावसमानता न
वागास्पदं स्वाऽऽश्रयभेदहीना ।
भावस्य सामान्यविशेषवत्त्वा-
दैक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म ॥५३॥

अन्वयार्थ - [**आत्मान्तराऽभावसमानता**] आत्मान्तर के अभावरूप (आत्मस्वभाव से भिन्न अन्य-अन्य स्वभाव के अपोहरूप अर्थात् निषेधरूप - देखें, फुटनोट) जो समानता (सामान्य) [**स्वाऽऽश्रय-भेदहीना**] अपने आश्रयरूप भेदों से हीन (रहित) है [**न वागास्पदं**] वह वागास्पद (वचनगोचर) नहीं होती। [**भावस्य**] पदार्थ के [**सामान्यविशेषवत्त्वात्**] सामान्य और विशेष [**तयोः**] दोनों की [**ऐक्ये**] एकरूपता स्वीकार करने पर [**निरात्म**] एक के निरात्म (अभाव) होने पर [**अन्यतरत्**] दूसरा भी (अविनाभावी होने के कारण) निरात्म हो जाता है।

यदि यह कहा जाये कि एक के नानात्मक अर्थ के प्रतिपादक शब्द पटुसिंहनाद प्रसिद्ध नहीं हैं, क्योंकि बौद्धों के अन्याऽपोह[1] रूप जो सामान्य है उसमें वागास्पदता (वचनगोचरता) है, और वचनों के वस्तु-विषयत्व का होना असम्भव है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मान्तर के अभावरूप (आत्मस्वभाव से भिन्न अन्य-अन्य स्वभाव के अपोहरूप) जो समानता (सामान्य) अपने आश्रयरूप भेदों से हीन (रहित) है वह वागास्पद (वचनगोचर) नहीं होती। कारण कि वस्तु सामान्य और विशेष दोनों धर्मों को लिये हुए है।

---

1. अन्याऽपोहवाद बौद्धों का एक विशिष्ट सिद्धान्त है। शब्द या वाक्य मात्र अन्य अर्थ की व्यावृत्ति करते हैं, वस्तु को नहीं बताते। जैसे किसी ने 'घट' कहा सो घट शब्द घट को न बतलाकर अघट की व्यावृत्ति (अभाव) मात्र करता है, इसी को अन्याऽपोह कहते हैं। (देखें, **'प्रमेयकमलमार्तण्ड'**, पृ. 659); (कृपया पूर्व पृ. 37 का फुटनोट भी देखें)

यदि यह कहा जाये कि पदार्थ के सामान्य-विशेषवान् होने पर भी सामान्य के ही वागास्पदता युक्त है, क्योंकि विशेष उसी का आत्मा है और इस तरह दोनों की एकरूपता मानी जाये, तो सामान्य और विशेष दोनों की एकरूपता स्वीकार करने पर एक के निरात्म (अभाव) होने पर दूसरा भी (अविनाभावी होने के कारण) निरात्म हो जाता है और इस तरह किसी का भी अस्तित्व नहीं बन सकता; अतः दोनों की एकरूपता नहीं मानी जानी चाहिये।

सामान्य मात्र वस्तु की सिद्धि संभव नहीं-

अमेयमश्लिष्टममेयमेव
भेदेऽपि तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् ।
वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न
मानं च नाऽनन्तसमाश्रयस्य ॥५४॥

अन्वयार्थ - **[भेदेऽपि]** भेद के मानने पर भी (सामान्य को स्वाश्रयभूत द्रव्यादिकों के साथ भेदरूप स्वीकार करने पर भी) **[अमेयम्]** जो अमेय है (नियत देश, काल और आकार की दृष्टि से जिसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता है) और **[अश्लिष्टम्]** अश्लिष्ट है [किसी भी प्रकार के विशेष (भेद) को साथ में लिये नहीं है] वह (सर्वव्यापी, नित्य, निराकाररूप सत्त्वादि) सामान्य **[अमेयम्]** अमेय-अप्रमेय (किसी भी प्रमाण से जाना नहीं जा सकता) **[एव]** ही है, क्योंकि **[तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात्]** उन द्रव्यादिकों में उसकी वृत्ति की अपवृत्ति (व्यावृत्ति) का सद्भाव है। **[वृत्तिः च]** (यदि सामान्य की द्रव्यादिवस्तु के साथ वृत्ति मानी भी जाये तो) वह वृत्ति भी (न तो सामान्य को) **[कृत्स्नांशविकल्पतः न]** कृत्स्न (निरंश, सम्पूर्ण) विकल्परूप से मानकर बनती है और न अंश विकल्परूप से मानकर बनती है। **[अनन्तसमाश्रयस्य च]** जो अनन्त व्यक्तियों के समाश्रयरूप है उस एक (सत्ता-महासामान्य) के ग्राहक **[मानं]** प्रमाण **[न]** का अभाव है।

यदि यह कहा जाये कि आत्मान्तराभावरूप[1] (अन्याऽपोहरूप) सामान्य वागास्पद नहीं है, क्योंकि वह अवस्तु है; परन्तु वह सर्वगत (सर्वव्यापक) सामान्य ही वागास्पद है जो विशेषों से अश्लिष्ट है अर्थात् किसी भी प्रकार के विशेष (भेद) को साथ में लिये हुए

---

1. यहाँ 'आत्मा' शब्द शुद्ध स्वरूप अथवा स्वभाव अथवा तदात्मकता को बताने के लिये है। अगर कहें कि पदार्थ सामान्य-विशेषात्मा है तो इसका अर्थ है कि पदार्थ सामान्य-विशेष स्वभाव वाला है।

नहीं है[2], तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जो अमेय है (नियत देश, काल और आकार की दृष्टि से जिसका कोई अनुमान नहीं लगााया जा सकता है) और अश्लिष्ट है (किसी भी प्रकार के विशेष-भेद को साथ में लिये हुए नहीं है) वह (सर्वव्यापी, नित्य, निराकाररूप सत्त्वादि) सामान्य अमेय-अप्रमेय ही है अर्थात् किसी भी प्रमाण से जाना नहीं जा सकता। भेद के मानने पर भी अर्थात् सामान्य को स्वाश्रयभूत द्रव्यादिकों के साथ भेदरूप स्वीकार करने पर भी सामान्य प्रमेय नहीं होता, क्योंकि उन द्रव्यादिकों में उसकी वृत्ति की अपवृत्ति (व्यावृत्ति) का सद्भाव है। सामान्य की वृत्ति उसमें मानी नहीं गई है, और जब तक सामान्य की अपने आश्रयभूत द्रव्यादिकों में वृत्ति नहीं है तब तक दोनों का संयोग कुण्डी में बेरों के समान ही हो सकता है, क्योंकि सामान्य के अद्रव्यपना है तथा अनाश्रयपना है और संयोग के द्रव्याश्रयपना है। ऐसी हालत में सामान्य की द्रव्यादिक में वृत्ति नहीं बन सकती।

यदि सामान्य की द्रव्यादिवस्तु के साथ वृत्ति मानी भी जाये तो वह वृत्ति भी न तो सामान्य को कृत्स्न (निरंश, सम्पूर्ण) विकल्परूप से मानकर बनती है और न अंश विकल्परूप से मानकर बनती है; क्योंकि अंशकल्पना से रहित कृत्स्न (सम्पूर्ण) विकल्परूप सामान्य की देश और काल से भिन्न व्यक्तियों में युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। उससे अनेक सामान्यों की मान्यता का प्रसंग आता है जो उक्त सिद्धान्त-मान्यता के साथ माने नहीं गये हैं, क्योंकि एक तथा अनंशरूप सामान्य का उन सबके साथ युगपत् योग नहीं बनता। यदि यह कहा जाये कि सामान्य भिन्न देश और काल के व्यक्तियों के साथ युगपत् सम्बन्धवान् है क्योंकि वह सर्वगत, नित्य और अमूर्त है जैसे कि आकाश, तो यह अनुमान भी ठीक नहीं है। इससे एक तो साधन इष्ट का विघातक हो जाता है अर्थात् जिस प्रकार वह भिन्न देश और काल के व्यक्तियों के साथ सम्बन्धिपन को सिद्ध करता है उसी प्रकार वह सामान्य के आकाश की तरह सांशपन को भी सिद्ध करता है जो इष्ट नहीं है, क्योंकि

---

2. बौद्ध दर्शन दो तत्त्वों को मानता है - एक स्वलक्षण और दूसरा सामान्यलक्षण। इनमें से स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है और सामान्यलक्षण अनुमान का विषय है।
स्वलक्षण - स्वजातीय और विजातीय परमाणुओं से असम्बद्ध और प्रतिक्षण विनाशशील जो निरंश परमाणु हैं उन्हीं का नाम स्वलक्षण है। अथवा देश, काल और आकार से नियत वस्तु का जो असाधारण या विशेष स्वरूप है वही स्वलक्षण है।
सामान्यलक्षण - सामान्य पदार्थ के विषय में बौद्ध दर्शन की एक विशिष्ट कल्पना है। बौद्ध दर्शन गोत्व, मनुष्यत्व आदि को कोई वास्तविक पदार्थ नहीं मानता है। सामान्य एक कल्पनात्मक वस्तु है। (देखें, **'आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका'**, कारिका 3, पृ. 42-44)

सामान्य को निरंश माना गया है। दूसरे सामान्य के निरंश होने पर उसका युगपत् सर्वगत होना उसी प्रकार विरुद्ध पड़ता है जिस प्रकार कि एक परमाणु का युगपत् सर्वगत होना विरुद्ध है, और इससे उक्त हेतु (साधन) असिद्ध है और असिद्ध-हेतु[3] के कारण कृत्स्न-विकल्परूप (निरंश) सामान्य का सर्वगत होना प्रमाणसिद्ध नहीं ठहरता।

यदि यह कहा जाये कि सत्तारूप महासामान्य तो पूरा सर्वगत सिद्ध ही है, क्योंकि वह सर्वत्र सत्प्रत्यय का हेतु है, तो यह ठीक नहीं है। कारण कि जो अनन्त व्यक्तियों के समाश्रयरूप है उस एक (सत्ता-महासामान्य) के ग्राहक प्रमाण का अभाव है, क्योंकि अनन्त सद्व्यक्तियों के ग्रहण बिना उसके विषय में युगपत् सत् इस ज्ञान की उत्पत्ति असर्वज्ञों (छद्मस्थों) के नहीं बन सकती, जिससे सर्वत्र सत्प्रत्यय-हेतुत्व की सिद्धि हो सके। सर्वत्र सत्प्रत्यय-हेतुत्व की सिद्धि न होने पर अनन्त समाश्रयी (समान आश्रयभूत) सामान्य का उक्त अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कृत्स्न-विकल्पी सामान्य की द्रव्यादिकों में वृत्ति सामान्य में बहुत्व का प्रसंग उपस्थित होने के कारण नहीं बन सकती। यदि सामान्य की अनन्त स्वाश्रयों में देशतः युगपत् वृत्ति मानी जाये तो वह भी इसी से दूषित हो जाता है, क्योंकि उसका ग्राहक भी कोई प्रमाण नहीं है। साथ ही सामान्य के सत्प्रदेशत्व का प्रसंग आता है, जिसे अपने उस सिद्धान्त का विरोध होने से जिसमें सामान्य को निरंश माना गया है, स्वीकार नहीं किया जा सकता और इसलिये अमेयरूप एक सामान्य किसी भी प्रमाण से सिद्ध न होने के कारण अप्रमेय ही है - अप्रामाणिक है।

स्याद्वाद शासन में-

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः ।
भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ।।३४।। ('आप्तमीमांसा')

सत्ता सामान्य की अपेक्षा से सब पदार्थ एक हैं और द्रव्य आदि के भेद से अनेक (पृथक्) हैं। जैसे असाधारण हेतु भेद की विवक्षा से अनेक-रूप और अभेद की विवक्षा से एक-रूप होता है, उसी प्रकार सब पदार्थों में भेद की विवक्षा से पृथक्त्व और अभेद की विवक्षा से एकत्व सुघटित है।

सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया ।
भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का ।।८।। (पंचास्तिकाय-संग्रह)

---

3. देखें, फुटनोट, पूर्व पृ. 111

सत्ता एक है, सर्वपदार्थ-स्थित है, सविश्वरूप है, अनंतपर्यायमय है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है, और सप्रतिपक्ष है।

इस प्रकार से समस्त पदार्थों में रहने वाली सत्ता को महासत्ता कहते हैं और प्रत्येक वस्तु की प्रथक्-प्रथक् सत्ता अवांतरसत्ता कहलाती है। तात्पर्य यह है कि जब हम सत्-सामान्य को व्यापक दृष्टिकोण से देखते हैं तब सभी पदार्थ सत्-रूप ही प्रतीत होते हैं, यही महासत्ता है। जब प्रतिनियत वस्तु के अस्तित्व को देखते हैं तब यह सत्ता अवांतरसत्ता कहलाती है। (अधिक विस्तार के लिए देखें, **'प्रवचनसार'**, अधिकार 2, गाथा 3-5)

अवस्तुभूत सामान्य अप्रमेय होने से वस्तु तत्त्व की सिद्धि नहीं होती-

नाना सदेकात्मसमाश्रयं चेद्-
अन्यत्वमद्विष्ठमनात्मनोः क्व ।
विकल्पशून्यत्वमवस्तुनश्चेत्
तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥५५॥

अन्वयार्थ - [**नाना-सदेकात्मसमाश्रयं**] नाना सतों (विविध सत्पदार्थों, द्रव्य-गुण-कर्मों) का एक आत्मा (एक स्वभावरूप व्यक्तित्व जैसे सदात्मा, द्रव्यात्मा, गुणात्मा अथवा कर्मात्मा) ही जिसका समाश्रय है [**चेत्**] ऐसा सामान्य यदि (सामान्यवादियों के द्वारा) माना जाये और उसे ही प्रमाण का विषय बतलाया जाये तो यह प्रश्न होता है कि उनका वह सामान्य [**अन्यत्वम्**] (अपने व्यक्तियों से) अन्य (भिन्न) है [**अद्विष्ठम्**] या अनन्य (अभिन्न)? (यदि वह एक स्वभाव के आश्रयरूप सामान्य अपने व्यक्तियों से सर्वथा अन्य (भिन्न) है तो-) [**अनात्मनोः**] व्यक्तियों तथा सामान्य दोनों के ही अनात्मा (अस्तित्वविहीन) होने पर वह अन्यत्वगुण (जिसे अद्विष्ठ माना गया है) [**क्व**] किसमें रहेगा? [**चेत्**] यदि सामान्य को (वस्तुभूत न मान कर) [**अवस्तुनः**] अवस्तु (अन्याऽपोहरूप) ही इष्ट किया जाये और उसे [**विकल्पशून्यत्वम्**] विकल्पों से शून्य माना जाये [**तस्मिन् अमेये**] तो उस अवस्तुरूप सामान्य के अमेय होने पर [**प्रमाणम्**] प्रमाण की प्रवृत्ति [**क्व खलु**] कहाँ होती है?

सामान्यवादियों के द्वारा नाना सतों का (सत्पदार्थों का) अर्थात् विविध द्रव्य-गुण-कर्मों का एक आत्मा (एक स्वभावरूप व्यक्तित्व जैसे सदात्मा, द्रव्यात्मा, गुणात्मा अथवा कर्मात्मा) ही जिसका समाश्रय है, ऐसा सामान्य माना जाता है और उसे ही प्रमाण का विषय बतलाया जाता है। अर्थात् यह कहा जाता है कि सत्तासामान्य का समाश्रय एक सदात्मा, द्रव्यत्वसामान्य का समाश्रय एक द्रव्यात्मा, गुणत्वसामान्य का समाश्रय एक गुणात्मा अथवा कर्मत्वसामान्य का समाश्रय एक कर्मात्मा जो अपनी एक सद्व्यक्ति, द्रव्यव्यक्ति,

गुणव्यक्ति अथवा कर्मव्यक्ति के प्रतिभासकाल में प्रमाण से प्रतीत होता है वही उससे भिन्न द्वितीयादि व्यक्तियों के प्रतिभासकाल में भी अभिव्यक्तता को प्राप्त होता है और जिससे उसके एक सत् अथवा एक द्रव्यादि स्वभाव की प्रतीति होती है, और इतने मात्र आश्रयरूप सामान्य के ग्रहण का निमित्त प्राप्त होने से वह प्रमाण है, उसके अप्रमाणता नहीं है, क्योंकि अप्रमाणता अनन्तस्वभाव के समाश्रयरूप सामान्य के घटित होती है। अब यह प्रश्न होता है कि उनका वह सामान्य (अपने व्यक्तियों से) अन्य (भिन्न) है या अनन्य (अभिन्न)? यदि वह एक स्वभाव के आश्रयरूप सामान्य अपने व्यक्तियों से सर्वथा अन्य (भिन्न) है तो उन व्यक्तियों के प्रागभाव[1] की तरह असदात्मकत्व, अद्रव्यत्व, अगुणत्व अथवा अकर्मत्व का प्रसंग आयेगा और व्यक्तियों के असदात्मकत्व, अद्रव्यत्व, अगुणत्व अथवा अकर्मत्व-रूप होने पर सत्सामान्य, द्रव्यत्वसामान्य, गुणत्वसामान्य अथवा कर्मत्वसामान्य भी व्यक्तिविहीन होने से अभावमात्र की तरह असत् ठहरेगा। और इस तरह व्यक्तियों तथा सामान्य दोनों के ही अनात्मा (अस्तित्वविहीन) होने पर वह अन्यत्वगुण (जिसे अद्विष्ठ माना गया है) किसमें रहेगा? किसी में भी उसका रहना नहीं बन सकता और इसलिये अपने व्यक्तियों से सर्वथा अन्यरूप सामान्य व्यवस्थित नहीं होता।

यदि वह सामान्य व्यक्तियों से सर्वथा अनन्य (अभिन्न) है तो वह अनन्यत्व भी व्यवस्थित नहीं होता, क्योंकि सामान्य के व्यक्ति में प्रवेश कर जाने पर व्यक्ति की ही सत्ता रह जाती है; सामान्य की कोई अलग सत्ता नहीं रहती, और सामान्य के अभाव में उस व्यक्ति की भी संभावना नहीं बनती, इसलिये वह (व्यक्ति) अनात्मा ठहरती है। व्यक्ति का अनात्मत्व (अनस्तित्व) होने पर सामान्य के भी अनात्मत्व का प्रसंग आता है और इस तरह व्यक्ति तथा सामान्य दोनों ही अनात्मा (अस्तित्व-विहीन) ठहरते हैं। तब अनन्यत्व गुण की योजना किसमें की जाये, जिसे द्विष्ठ (दोनों में रहने वाला) माना गया है? किसी में भी उसकी योजना नहीं बन सकती और इसके द्वारा सर्वथा अन्य-अनन्यरूप उभय-एकान्त का भी निरसन हो जाता है, क्योंकि उसकी मान्यता पर दोनों प्रकार के दोषों का प्रसंग आता है।

यदि सामान्य को (वस्तुभूत न मान कर) अवस्तु (अन्याऽपोहरूप[1]) ही इष्ट किया जाये और उसे विकल्पों से शून्य माना जाये; यह कहा जाये कि उसमें खरविषाण की तरह अन्यत्व-अनन्यत्वादि के विकल्प ही नहीं बनते और इसलिये विकल्प उठाकर जो दोष दिये गये हैं उनके लिये अवकाश नहीं रहता, तो उस अवस्तुरूप सामान्य के अमेय होने पर

---

1. देखें, फुटनोट, पूर्व पृ. 20

2. बौद्ध मत, देखें, फुटनोट, पूर्व पृ. 122

प्रमाण की प्रवृत्ति कहाँ होती है? अमेय होने से वह सामान्य प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाण का विषय नहीं रहता और इसलिये उसकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।

इस प्रकार अन्य मतों में प्रमाणाभाव के कारण किसी भी सामान्य की व्यवस्था नहीं बन सकती।

अन्य दर्शनों में मान्य सामान्य-विशेष के स्वरूप से वस्तु स्वरूप की सिद्धि नहीं होती-

व्यावृत्तिहीनाऽन्वयतो न सिद्ध्येद्
विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम् ।
अतद्व्युदासाऽभिनिवेशवादः
पराऽभ्युपेताऽर्थविरोधवादः ॥५६॥

अन्वयार्थ - **[साध्यं]** यदि साध्य (सत्तारूप परसामान्य अथवा द्रव्यत्वादिरूप अपरसामान्य) को **[व्यावृत्ति-हीनाऽन्वयतः]** व्यावृत्तिहीन अन्वय से सिद्ध माना जाये तो वह **[न सिध्येत्]** सिद्ध नहीं होता है। **[विपर्यये अपि]** यदि इसके विपरीत अन्वयहीन व्यावृत्ति से साध्य (सामान्य) को सिद्ध माना जाये तो वह भी नहीं बनता। (यदि यह कहा जाये कि) **[अद्वितये अपि]** अन्वय और व्यावृत्ति दोनों से हीन जो अद्वितयरूप हेतु है (उससे सन्मात्र का प्रतिभासन होने से सत्ताद्वैतरूप सामान्य की सिद्धि होती है) **[न सिध्येत्]** तो इस प्रकार भी यह सिद्धि नहीं है। **[अतद्व्युदासाऽभिनिवेशवादः]** यदि अद्वितय को संवित्तिमात्र (ज्ञानमात्र) के रूप में मानकर असाधनव्यावृत्ति से साधन को और असाध्यव्यावृत्ति से साध्य को अतद्व्युदास-अभिनिवेशवाद (अनधिकृत के प्रतिषेधरूप दृढ़ निश्चयवाद) के रूप में आश्रित किया जाये तब भी (बौद्धों के मत में) **[पराऽभ्युपेताऽर्थविरोधवादः]** पराभ्युपेतार्थ (पर के द्वारा स्वीकृत वस्तु तत्त्व) के विरोधवाद का प्रसंग आता है।

(जैसे कि सत्ताद्वैतवादी मानते हैं-) यदि साध्य (सत्तारूप परसामान्य अथवा द्रव्यत्वादिरूप अपरसामान्य) को व्यावृत्तिहीन अन्वय[1] से असत् की अथवा अद्रव्यत्वादि की व्यावृत्ति[2]

---

1. अन्वय अर्थात् कारण के होने पर कार्य का होना। इस प्रकार अन्वय (अथवा अनुवृत्ति) भाव-स्वरूप है। कारण के अभाव में कार्य के अभाव को व्यतिरेक सम्बन्ध कहते हैं। (देखें, **'परीक्षामुखसूत्र'**, पृ. 42)
2. व्यावृत्ति अर्थात् विवक्षित पदार्थ से अन्य पदार्थ का अपोह या निराकरण या निषेध। इसी को

के बिना केवल सत्तादिरूप अन्वय हेतु से सिद्ध माना जाये तो वह सिद्ध नहीं होता, क्योंकि विपक्ष की व्यावृत्ति के बिना सत्-असत् अथवा द्रव्यत्व-अद्रव्यत्वादिरूप साधनों के संकर[3] से सिद्धि का प्रसंग आता है और यह कहना नहीं बन सकता कि जो सदादिरूप अनुवृत्ति (अन्वय) है वही असदादि की व्यावृत्ति है, क्योंकि अनुवृत्ति (अन्वय) भाव-स्वभावरूप और व्यावृत्ति अभाव-स्वभावरूप है और दोनों में भेद माना गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सदादि के अन्वय पर असदादिक की व्यावृत्ति सामर्थ्य से ही हो जाती है, क्योंकि तब यह कहना नहीं बनता कि 'व्यावृत्तिहीन अन्वय से उस साध्य की सिद्धि होती है' अर्थात् सामर्थ्य से असदादिक की व्यावृत्ति को सिद्ध मानने पर तो यही कहना होगा कि वह अन्वयरूप हेतु असदादिक की व्यावृत्ति-सहित है, उसी से सत्सामान्य (परसामान्य) की अथवा द्रव्यत्वादि-सामान्य (अपरसामान्य) की सिद्धि होती है और इसीलिये उस सामान्य के सामान्य-विशेषाख्यत्व की व्यवस्थापना होती है।

(जैसे कि अन्याऽपोहवादी मानते हैं-) यदि इसके विपरीत अन्वयहीन व्यावृत्ति से साध्य (सामान्य) को सिद्ध माना जाये तो वह भी नहीं बनता, क्योंकि सर्वथा अन्वय-रहित अतद्व्यावृत्ति प्रत्यय (अनधिकृत के निषेध का कारण) से अन्याऽपोह की सिद्धि होने पर भी उसकी विधि की असिद्धि होने से अर्थात् उस अर्थक्रियारूप साध्य की सिद्धि के अभाव से उसमें प्रवृत्ति का विरोध होता है, वह नहीं बनती और यह कहना भी नहीं बनता कि दृश्य (जो निर्विकल्प प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाये) और विकल्प्य (जो सविकल्प ज्ञान के द्वारा निर्णय में आये) दोनों के एकत्वाऽध्यवसाय से प्रवृत्ति के होने पर साध्य की सिद्धि होती है, क्योंकि दृश्य और विकल्प्य का एकत्वाऽध्यवसाय असम्भव है। दर्शन[4] उस एकत्व का अध्यवसाय नहीं करता; क्योंकि विकल्प्य उसका विषय नहीं है। दर्शन की पीठ

अन्याऽपोह कहते हैं; बौद्ध लोग अन्याऽपोह ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि 'गो' शब्द विधिरूप से गाय का बोध नहीं कराता है किन्तु 'अगो' की व्यावृत्ति करता है। व्यावृत्ति अभाव-स्वरूप है। (देखें, फुटनोट, पूर्व पृ. 37 तथा पूर्व पृ. 122)

3. वस्तु में अनेक धर्मों की युगपत् प्राप्ति को संकर दोष कहते हैं। (**'प्रमेयरत्नमाला'**, पृ. 234) अथवा सर्व वस्तुओं का परस्पर मिलकर एक हो जाना। (**'आलापपद्धति'**, पृ. 116)

4. जैन मतानुसार दर्शन को निर्विकल्प और ज्ञान को सविकल्प माना गया है। (**'द्रव्यसंग्रह'**, गाथा 42, 43)
बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष (इन्द्रिय, मानस, स्वसंवेदन, योग) निर्विकल्प (अनिश्चायक) है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान क्षणिक स्वलक्षण मात्र को (एक समय पर्याय को) ही जानता है। तथा अनुमान प्रमाण भ्रान्त है क्योंकि वह सामान्य पदार्थ को विषय करता है। (देखें, **'न्यायसार'**, पृ. 57)

पर होने वाला - निर्विकल्प प्रत्यक्ष के बाद - विकल्प्य भी उस एकत्व का अध्यवसाय नहीं करता; क्योंकि दृश्य विकल्प्य का विषय नहीं है और दोनों को विषय करने वाला कोई ज्ञानान्तर सम्भव नहीं है, जिससे उनका एकत्वाऽध्यवसाय हो सके और एकत्वाऽध्यवसाय के कारण अन्वयहीन व्यावृत्तिमात्र से अन्यापोहरूप सामान्य की सिद्धि बन सके। इस तरह स्वलक्षणरूप साध्य की सिद्धि नहीं बनती।

यदि यह कहा जाये कि अन्वय और व्यावृत्ति दोनों से हीन जो अद्वितयरूप हेतु है उससे सन्मात्र का प्रतिभासन होने से सत्ताद्वैतरूप सामान्य की सिद्धि होती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सर्वथा अद्वितय (अद्वैत) की मान्यता पर साध्य-साधन की भेदसिद्धि नहीं बनती और भेद की सिद्धि नहीं होने पर साधन से साध्य की सिद्धि नहीं बनती और साधन से साध्य की सिद्धि न होने पर अद्वितय-हेतु विरुद्ध पड़ता है।

यदि अद्वितय को संवित्तिमात्र (ज्ञानमात्र, प्रतिभासमात्र) के रूप में मानकर असाधनव्यावृत्ति[5] (जो साध्य नहीं है उसक अभाव) से साधन को और असाध्यव्यावृत्ति से साध्य को अतद्व्युदास-अभिनिवेशवाद (अनधिकृत के निषेधरूप, दृढ़ निश्चयवाद) के रूप में आश्रित किया जाये तब भी (बौद्धों के मत में) पराभ्युपेतार्थ (पर के द्वारा स्वीकृत वस्तु तत्त्व) के विरोधवाद का प्रसंग आता है। अर्थात् बौद्धों के द्वारा संवेदनाद्वैतरूप जो अर्थ पराभ्युपगत है वह अतद्व्युदास-अभिनिवेशवाद से अर्थात् अतद्व्यावृत्तिमात्र आग्रहवचनरूप से विरुद्ध पड़ता है; क्योंकि किसी असाधन तथा असाध्य के अर्थाभाव (अवस्तुभूत) में उनकी अव्यावृत्ति (स्वीकृति) से साध्य-साधन व्यवहार की उपपत्ति नहीं बनती और उनको अर्थ मानने पर प्रतिक्षेप का योग्यपना न होने से द्वैत की सिद्धि होती है। इस तरह बौद्धों के पूर्वाभ्युपेत (पूर्व में स्वीकृत) अर्थ के विरोधवाद का प्रसंग आता है।

नोट - **अभ्युपेत** = प्रतिज्ञात, स्वीकृत; **व्युदास** = अस्वीकृत, प्रतिषेध, उपेक्षा;
अभ्युपगत = स्वीकृत किया हुआ।

---

5. सर्वथा अद्वैत की मान्यता पर साध्य-साधन का भेद नहीं बन सकता। अब सिद्धि किसके द्वारा की जाये और किसको सिद्ध किया जाये? अद्वैत तत्त्व को संवेदनामात्र अथवा प्रतिभासमात्र मानने वालों के मत में उस साधन का नाम है, असाधनव्यावृत्ति। और साध्य को असाध्यव्यावृत्तिरूप माना है। (देखें, **'युक्त्यनुशासन प्रवचन'**, पृ. 226-227)

निःस्वभावभूत संवृतिरूप साधन से संवृतिरूप साध्य की सिद्धि की युक्ति वस्तु स्वरूप के निर्धारण में असमर्थ है-

अनात्मनाऽनात्मगतेरयुक्ति-
र्वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्षसिद्धिः ।
अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्षसिद्धिः
न च स्वयं साधनरिक्तसिद्धिः ।।५७।।

अन्वयार्थ - [**अनात्मना**] अनात्मा (निःस्वभाव संवृतिरूप तथा असाधन की व्यावृत्तिमात्ररूप) साधन के द्वारा [**अनात्मगतेः**] (उसी प्रकार के) अनात्मसाध्य की जो गति-प्रतिपत्ति (बोध, जानकारी) है उसकी सर्वथा [**अयुक्तिः**] अयुक्ति (अयोजना) है (वह बनती ही नहीं है)। [**यदि**] यदि [**वस्तुनि**] वस्तु में [**अयुक्तेः**] (अनात्मसाधन के द्वारा अनात्मसाध्य की गति की) अयुक्ति से [**पक्षसिद्धिः**] पक्ष की सिद्धि मानी जाये तो [**अवस्त्वयुक्तेः**] अवस्तु में साधन-साध्य की अयुक्ति से [**प्रतिपक्षसिद्धिः**] प्रतिपक्ष की (द्वैत की) भी सिद्धि ठहरती है [**च स्वयं**] और यदि स्वतः ही [**साधनरिक्तसिद्धिः**] साधन के बिना (संवेदनाद्वैतरूप साध्य की) सिद्धि मानी जाये तो वह [**न**] युक्त नहीं है।

यदि क्षणिकवादी बौद्धों की तरफ से यह कहा जाये कि वे साधन को अनात्मक (अयथार्थ) मानते हैं, वास्तविक नहीं और साध्य भी वास्तविक नहीं है, क्योंकि वह संवृति के द्वारा कल्पिताकाररूप है, अतः पराभ्युपेतार्थ के विरोधवाद का प्रसंग नहीं आता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अनात्मा अर्थात् निःस्वभाव संवृतिरूप तथा असाधन की व्यावृत्तिमात्ररूप (जो साधन नहीं हैं उनके अभाव रूप) साधन के द्वारा उसी प्रकार के अनात्मसाध्य (अयथार्थ अथवा कल्पित साध्य) की जो गति-प्रतिपत्ति (बोध, जानकारी) है उसकी सर्वथा अयुक्ति (अयोजना) है; वह बनती ही नहीं है।
यदि संवेदनाद्वैतरूप वस्तु में अनात्मसाधन (कल्पनामात्र साधन) के द्वारा अनात्मसाध्य (कल्पित साध्य) की गति की अयुक्ति से पक्ष की सिद्धि मानी जाये, अर्थात्

संवेदनाद्वैतवादियों के द्वारा यह कहा जाये कि साध्य-साधन भाव से शून्य संवेदनमात्र के पक्षपने से ही हमारे यहाँ तत्त्वसिद्धि है, तो अवस्तु में साधन-साध्य की अयुक्ति से प्रतिपक्ष की अर्थात् द्वैत की भी सिद्धि ठहरती है। अवस्तु साधन अद्वैततत्त्वरूप साध्य को सिद्ध नहीं करता; क्योंकि ऐसा होने से अतिप्रसंग[1] दोष आता है; विपक्ष की भी सिद्धि ठहरती है।

यदि साधन के बिना स्वत: ही संवेदनाद्वैतरूप साध्य की सिद्धि मानी जाये तो वह युक्त नहीं है; क्योंकि तब पुरुषाद्वैत[2] की भी स्वयं सिद्धि का प्रसंग आता है, उसमें किसी भी बौद्ध को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

---

1. देखें, फुटनोट, पूर्व पृ. 39

2. उत्तरमीमांसा (वेदान्त) द्वारा मान्य ब्रह्माद्वैत।

संवेदनाद्वैत स्वपक्ष का घातक है-

निशायितस्तैः परशुः परघ्नः
स्वमूर्ध्नि निर्भेदभयाऽनभिज्ञैः ।
वैतण्डिकैर्यैः कुसृतिः प्रणीता
मुने! भवच्छासनदृक्प्रमूढैः ॥५८॥

अन्वयार्थ - (इस तरह) [**मुने!**] हे वीर भगवन्! [**यैः वैतण्डिकैः**] जिन वैतण्डिकों ने (परपक्ष के दूषण की प्रधानता अथवा एकमात्र धुन को लिये हुए संवेदनाद्वैतवादियों ने) [**कुसृतिः**] कुसृति का (कुत्सिता गति-प्रतीति अथवा कुमार्ग का) [**प्रणीता**] प्रणयन किया है, [**तैः**] उन [**भवच्छासन-दृक्-प्रमूढैः**] आपके (स्याद्वाद) शासन की दृष्टि से प्रमूढ एवं [**निर्भेदभयाऽनभिज्ञैः**] निर्भेद के भय से अनभिज्ञ जनों ने (दर्शनमोह के उदय से आक्रान्त होने के कारण) [**परघ्नः**] परघातक [**परशुः**] परशु-कुल्हाड़े को [**स्वमूर्ध्नि**] अपने ही मस्तक पर [**निशायितः**] मारा है!

इस तरह, हे वीर भगवन्! जिन वैतण्डिकों (व्यर्थ विवाद करने वालों) ने, परपक्ष के दूषण की प्रधानता अथवा एकमात्र धुन को लिये हुए संवेदनाद्वैतवादियों ने, कुसृति (कुत्सिता गति-प्रतीति अथवा कुमार्ग) का प्रणयन किया है, उन आपके (स्याद्वाद) शासन की दृष्टि से प्रमूढ़ एवं निर्भेद के भय से अनभिज्ञ जनों ने (दर्शनमोह के उदय से आक्रान्त होने के कारण) परघातक परशु-कुल्हाड़े को अपने ही मस्तक पर मारा है!

जिस प्रकार दूसरे के घात के लिये उठाया हुआ कुल्हाड़ा यदि अपने ही मस्तक पर पड़ता है तो अपने मस्तक का विदारण करता है और उसको उठाकर चलाने वाले अपने घात के भय से अनभिज्ञ कहलाते हैं, उसी प्रकार परपक्ष का निराकरण करने वाले वैतण्डिकों के द्वारा दर्शनमोह के उदय से आक्रान्त होने के कारण जिस न्याय का प्रणयन किया गया है वह अपने पक्ष का भी निराकरण करता है और इसलिये उन्हें भी स्वपक्षघात के भय से अनभिज्ञ एवं दृक्प्रमूढ (भ्रान्त) समझना चाहिये।

सर्वशून्यतारूप अभावैकान्त से वस्तु स्वरूप की सिद्धि संभव नहीं-

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो
भावान्तरं भाववदर्हतस्ते ।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च
वस्तुव्यवस्थाऽङ्गममेयमन्यत् ॥५९॥

अन्वयार्थ - **[ते अर्हतः]** हे वीर अर्हन्! आपके मत में **[अभावः अपि]** अभाव भी **[वस्तुधर्मः]** वस्तुधर्म **[भवति]** होता है **[च]** और यदि वह अभाव (धर्म का अभाव न होकर धर्मी का अभाव है) तो वह **[भाववत्]** भाव की तरह **[भावान्तरं]** भावान्तर होता है। (इस सब का कारण यह है कि) **[च प्रमीयते]** अभाव को प्रमाण से जाना जाता है और **[व्यपदिश्यते च]** व्यपदिष्ट किया जाता है और **[वस्तुव्यवस्थाऽङ्गम्]** वस्तु-व्यवस्था के अंगरूप में निर्दिष्ट किया जाता है। **[अन्यत्]** इससे भिन्न अभाव [जो अभाव-तत्त्व (सर्वशून्यता) वस्तु-व्यवस्था का अंग नहीं है, वह भाव-एकान्त की तरह] **[अमेयम्]** अमेय (अप्रमेय) ही है अर्थात् किसी भी प्रमाण के गोचर नहीं है।

यदि यह कहा जाये कि- "'साधन के बिना साध्य की स्वयं सिद्धि नहीं होती' इस वाक्य के अनुसार संवेदनाद्वैत की भी सिद्धि नहीं होती, तो मत हो, परन्तु शून्यतारूप सर्व का अभाव तो विचारबल से प्राप्त हो जाता है, उसका परिहार नहीं किया जा सकता अतः उसे ही मानना चाहिये"[1], तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि- हे वीर अर्हन्! आपके मत में अभाव भी वस्तुधर्म होता है। बाह्य तथा आभ्यन्तर वस्तु के असम्भव होने पर सर्वशून्यतारूप तदभाव (तत्+अभाव, उनका अभाव) सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि स्वधर्मी के असम्भव होने पर किसी भी धर्म की प्रतीति नहीं बन सकती। अभाव-धर्म की जब प्रतीति है तो उसका कोई धर्मी (बाह्य-आभ्यन्तर पदार्थ) होना ही चाहिये और

1. बौद्ध मत के एक भेद माध्यमिक (शून्यवाद) के मतानुसार।

इसलिये सर्वशून्यता घटित नहीं हो सकती। सर्व ही नहीं तो सर्वशून्यता कैसी? तत् (वस्तु) ही नहीं तो तदभाव कैसा? अथवा भाव (पदार्थ) ही नहीं तो अभाव किसका? इसके सिवाय, यदि वह अभाव स्वरूप से है तो उसके वस्तु-धर्मत्व की सिद्धि है, क्योंकि स्वरूप का नाम ही वस्तु-धर्म है। अनेक धर्मों में से किसी धर्म के अभाव होने पर वह अभाव धर्मान्तर (धर्म से अन्य धर्मरूप) ही होता है और जो धर्मान्तर होता है वह कैसे वस्तु-धर्म सिद्ध नहीं होता? होता ही है। यदि वह अभाव स्वरूप से नहीं है तो वह अभाव ही नहीं है, क्योंकि अभाव का अभाव होने पर भाव का विधान होता है; उदाहरणार्थ रात्रि का अभाव दिन की ही सिद्धि करता है। यदि वह अभाव (धर्म का अभाव न होकर धर्मी का अभाव है) तो वह भाव (पदार्थ) की तरह भावान्तर (अन्य पदार्थ) होता है- जैसे कि कुम्भ का जो अभाव है वह भूभाग है और वह भावान्तर (अन्य पदार्थ) ही है, यौगमत की मान्यता के अनुसार सकलशक्ति-विरहरूप तुच्छ नहीं है। सारांश यह कि अभाव यदि धर्म का है तो वह धर्म की तरह धर्मान्तर होने से वस्तु-धर्म है और यदि वह धर्मी का है तो वह भाव की तरह भावान्तर (दूसरा धर्मी) होने से स्वयं दूसरी वस्तु है; उसे सकलशक्ति-शून्य तुच्छ नहीं कह सकते और इस सब का कारण यह है कि अभाव को प्रमाण से जाना जाता है, व्यपदिष्ट किया जाता है और वस्तु-व्यवस्था के अंगरूप में निर्दिष्ट किया जाता है।

यदि धर्म अथवा धर्मी के अभाव को किसी प्रमाण से नहीं जाना जाता तो वह कैसे व्यर्वस्थित होता है? नहीं होता। यदि किसी प्रमाण से जाना जाता है तो वह धर्म-धर्मी के स्वभाव-भाव की तरह वस्तु-धर्म अथवा भावान्तर हुआ और यदि वह अभाव व्यपदेश को प्राप्त नहीं होता तो कैसे उसका प्रतिपादन किया जाता है? उसका प्रतिपादन नहीं बनता। यदि व्यपदेश को प्राप्त होता है तो वह वस्तु-धर्म अथवा वस्त्वन्तर (अन्य वस्तु) ठहरा, अन्यथा उसका व्यपदेश नहीं बन सकता। इसी तरह वह अभाव यदि वस्तु-व्यवस्था का अंग नहीं तो उसकी कल्पना से क्या नतीजा? 'घट में पटादि का अभाव है', इस प्रकार पटादि के परिहार द्वारा अभाव को घट-व्यवस्था का कारण परिकल्पित किया जाता है, अन्यथा वस्तु में संकर[2] दोषों का प्रसंग आता है, जिससे वस्तु की कोई व्यवस्था नहीं रहती। अतः अभाव वस्तु-व्यवस्था का अंग है और इसलिये भाव की तरह वस्तु-धर्म है।

जो अभाव-तत्त्व (सर्वशून्यता) वस्तु-व्यवस्था का अंग नहीं है, वह (भाव-एकान्त[3] की तरह) अमेय (अप्रमेय) ही है - किसी भी प्रमाण के गोचर नहीं है।

---

2. देखें, फुटनोट, पूर्व पृ. 132

3. नित्य-कूटस्थ सांख्य।

इस तरह दूसरों के द्वारा परिकल्पित वस्तुरूप या अवस्तुरूप सामान्य जिस प्रकार वाक्य का अर्थ नहीं बनता उसी प्रकार व्यक्तिमात्र परस्पर-निरपेक्ष उभयरूप सामान्य भी वाक्य का अर्थ नहीं बनता, क्योंकि वह सामान्य अमेय है; सम्पूर्ण प्रमाणों के विषय से अतीत है अर्थात् किसी भी प्रमाण से उसे जाना नहीं जा सकता।

वाक्य विधि-प्रतिषेध दोनों का विधायक है-

विशेषसामान्यविषक्तभेद-
विधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यम् ।
अभेदबुद्धेरविशिष्टता स्याद्
व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥६०॥

अन्वयार्थ - **[विशेष-सामान्य-विषक्त-भेद-विधिव्यवच्छेद-विधायिवाक्यम्]** वाक्य (वस्तुतः) विशेष (विसदृश परिणाम) और सामान्य (सदृश परिणाम) को लिये हुए जो (द्रव्य-पर्याय की अथवा द्रव्य-गुण-कर्म की व्यक्तिरूप) भेद हैं उनके विधि और प्रतिषेध दोनों का विधायक (व्यवस्थित करने वाला) होता है। हे वीर जिन! **[ते]** आपके यहाँ - स्याद्वाद शासन में - **[अभेदबुद्धेः]** (जिस प्रकार) अभेदबुद्धि से (द्रव्यत्वादि व्यक्ति की) **[अविशिष्टता]** अविशिष्टता (समानता) होती है **[च]** उसी प्रकार **[व्यावृत्तिबुद्धेः]** व्यावृत्तिबुद्धि से (भेदबुद्धि से) **[विशिष्टता]** विशिष्टता की **[स्यात्]** प्राप्ति होती है।

वाक्य (वस्तुतः) विशेष (विसदृश परिणाम) और सामान्य (सदृश परिणाम) को लिये हुए जो (द्रव्य-पर्याय की अथवा द्रव्य-गुण-कर्म की व्यक्तिरूप) भेद हैं उनके विधि और प्रतिषेध दोनों का विधायक (प्रतिपादक, व्यवस्थित करने वाला) होता है। जैसे 'घट लाओ' यह वाक्य जिस प्रकार घट के लानेरूप विधि का विधायक (प्रतिपादक) है उसी प्रकार अघट के न लानेरूप प्रतिषेध का भी विधायक है, अन्यथा उसके विधानार्थ वाक्यान्तर (अन्य वाक्य, अर्थात् 'अघट नहीं लाओ') के प्रयोग का प्रसंग आता है और उस वाक्यान्तर के भी तत्प्रतिषेधविधायी न होने पर फिर दूसरे वाक्य के प्रयोग की आवश्यकता उपस्थित होती है और इस तरह वाक्यान्तर के प्रयोग की कहीं भी समाप्ति न बन सकने से अनवस्था[1] दोष का प्रसंग आता है, जिससे कभी भी घट के लानेरूप विधि

1. देखें, फुटनोट, पूर्व पृ. 16

की प्रतिपत्ति नहीं बन सकती। अतः जो वाक्य प्रधानभाव से विधि का प्रतिपादक है वह गौणरूप से प्रतिषेध का भी प्रतिपादक है[2] और जो मुख्यरूप से प्रतिषेध का प्रतिपादक है वह गौणरूप से विधि का भी प्रतिपादक है, ऐसा प्रतिपादन करना चाहिये।

हे वीर जिन! आपके स्याद्वाद शासन में जिस प्रकार अभेदबुद्धि से (द्रव्यत्वादि व्यक्ति की) अविशिष्टता (समानता) होती है, उसी प्रकार व्यावृत्तिबुद्धि से (भेदबुद्धि से) विशिष्टता (पर्याय-विशेष) की प्राप्ति होती है।

---

2. देखें, **'आप्तमीमांसा'**, कारिका 109-113

अष्टम परिच्छेद (६१-६४)

वर्धमान जिन-शासन ही सर्वोदय-तीर्थ

स्याद्वाद शासन सभी की उन्नति का साधक-रूप 'सर्वोदय' तीर्थ है-

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

अन्वयार्थ - हे वीर भगवन्! **[तव]** आपका **[इदं]** यह **[तीर्थं]** तीर्थ (प्रवचनरूप शासन, अर्थात् परमागम वाक्य, जिसके द्वारा संसार-महासमुद्र को तिरा जाता है) **[एव]** ही **[सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं]** सर्वान्तवान् है (सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक आदि सभी धर्मों को लिये हुए है) और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिये हुए है। जो शासन-वाक्य धर्मों में) **[मिथोऽनपेक्षं]** पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता (उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है वह) **[सर्वान्तशून्यं]** सर्व धर्मों से शून्य है। (अतः आपका यह शासन-तीर्थ ही) **[सर्वाऽऽपदाम्]** सर्व आपदाओं (दुःखों) का **[अन्तकरं]** अन्त करने वाला है, यही **[निरन्तं]** निरन्त है (किसी भी मिथ्यादर्शन के द्वारा खण्डनीय नहीं है) **[च]** और यही **[सर्वोदयं]** सब प्राणियों के अभ्युदय का साधक, ऐसा सर्वोदय-तीर्थ है।

हे वीर भगवन्! आपका यह तीर्थ - प्रवचनरूप शासन अर्थात् परमागम वाक्य, जिसके द्वारा संसार-महासमुद्र को तिरा जाता है - ही सर्वान्तवान् है अर्थात् सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक आदि अशेष (सभी) धर्मों को लिये हुए है और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिये हुए है। एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है, इसी से सुव्यवस्थित है, उसमें असंगतता अथवा विरोध के लिये कोई अवकाश नहीं है।

जो शासन–वाक्य धर्मों में पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता अर्थात् उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है, वह सर्व धर्मों से शून्य है। उसमें किसी भी धर्म का अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ–व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका यह शासन–तीर्थ ही सर्व दुःखों का अन्त करने वाला है, यही निरन्त है, किसी भी मिथ्यादर्शन के द्वारा खण्डनीय नहीं है, और यही सब प्राणियों के अभ्युदय (उन्नति) का साधक, ऐसा सर्वोदय–तीर्थ है।

भावार्थ यह है कि आपका शासन अनेकान्त के प्रभाव से सकल दुर्नयों (परस्पर निरपेक्ष नयों) अथवा मिथ्यादर्शनों का निरसन (अन्त) करने वाला है। ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्तवादरूप मिथ्यादर्शन ही संसार में अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओं के कारण होते हैं। इन दुर्नयरूप मिथ्यादर्शनों का अन्त करने वाला होने से आपका शासन समस्त आपदाओं का अन्त करने वाला है अर्थात् जो लोग आपके शासन–तीर्थ का आश्रय लेते हैं, उसे पूर्णतया अपनाते हैं, उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं। वे अपना पूर्ण अभ्युदय अर्थात् उत्कर्ष एवं विकास सिद्ध करने में समर्थ हो जाते हैं।

आचार्य समन्तभद्र **'स्वयम्भूस्तोत्र'**[1] में भगवान् विमलनाथ की स्तुति में कहते हैं–

य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः ।
त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥

(१३-१-६१)

ये जो नित्य–अनित्य, सत्–असत् आदि एकान्तरूप नय हैं वे परस्पर एक–दूसरे से निरपेक्ष होकर अर्थात् स्वतन्त्र रह कर अपना व दूसरों का नाश करने वाले हैं। न तो कहने वाले का भला होता है न ही सुनने वाले का। परन्तु आप प्रत्यक्षज्ञानी व सर्व–दोषरहित विमलनाथ भगवान् के मत में वे ही नित्य–अनित्य आदि नय एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुए अपना व दूसरों का उपकार करने वाले होकर यथार्थ तत्त्व स्वरूप होते हैं।

---

1. देखें, *"Ācārya Samantabhadra's Svayambhūstotra – Adoration of The Twenty-four Tīrthaṅkara"*, p. 86

हे वीर जिन! आपके शासन में श्रद्धान करने वाला अभद्र भी समन्तभद्र हो जाता है-

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानश्रृङ्गो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

अन्वयार्थ - (हे वीर जिन!) [**ते**] आपके [**इष्टं**] इष्ट-शासन से [**कामं**] यथेष्ट अथवा भरपेट [**द्विषन् अपि**] द्वेष रखने वाला मनुष्य भी यदि [**समदृष्टिः**] समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ, [**उपपत्तिचक्षुः**] उपपत्ति-चक्षु से, मात्सर्य (विद्वेष) के त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधान की दृष्टि से [**त्वयि**] आपके इष्ट का (शासन का) [**समीक्ष्यतां**] अवलोकन और परीक्षण करता है तो [**ध्रुवं**] अवश्य ही [**खण्डितमानश्रृङ्गः**] उसका मान-श्रृङ्ग (मान-शिखर) खण्डित हो जाता है और वह [**अभद्रः अपि**] अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी [**समन्तभद्रः**] सब ओर से भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि [**भवति**] बन जाता है।

हे वीर जिन! आपके इष्ट-शासन से यथेष्ट द्वेष रखने वाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ, उपपत्ति-चक्षु से (मात्सर्य के त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधान की दृष्टि से) आपके शासन का अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शिखर खण्डित हो जाता है। उसका सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामत का आग्रह छूट जाता है और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओर से भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है। वह आपके शासन-तीर्थ का उपासक और अनुयायी हो जाता है। कोई पुरुष स्याद्वाद-शासन से कितना ही द्वेष रखता हो पर यदि उसमें आत्महित की भावना है और सही समाधान की जिज्ञासा है तो वह नियम से तत्त्व का समीक्षण-परीक्षण और अवलोकन करेगा तथा उसके उपरान्त गर्वहीन होकर अपने एकान्तवाद का आग्रह छोड़ आपके स्याद्वाद-शासन का आश्रय लेगा।

राग-द्वेष से रहित हिताभिलाषियों के हित के उपायभूत यह आपके गुणों का स्तवन किया है-

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ
न चाऽन्येषु द्वेषादपगुणकथाऽभ्यासखलता ।
किमु न्यायाऽन्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां
हिताऽन्वेषोपायस्तव गुणकथासङ्गगदितः ॥६३॥

अन्वयार्थ - (हे वीर भगवन्!) [**स्तोत्रं**] हमारा यह स्तोत्र [**भवपाशच्छिदि**] आप जैसे भव-पाश-छेदक [**मुनौ**] मुनि के प्रति [**रागात् न भवति**] रागभाव से नहीं है, [**न**] न हो सकता है। [**च**] और [**अन्येषु**] दूसरों के प्रति [**द्वेषात्**] द्वेषभाव से भी इस स्तोत्र का कोई [**न**] सम्बन्ध नहीं है; हम तो [**अपगुण-कथाऽभ्यास-खलता**] दुर्गुणों की कथा के अभ्यास को खलता (दुष्टता, खोटा अभिप्राय) समझते हैं। (तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश्य?) उद्देश्य यही है कि [**न्यायाऽन्याय-प्रकृत-गुण-दोष-ज्ञमनसां किमु**] जो लोग न्याय-अन्याय को पहचानना चाहते हैं, और प्रकृत पदार्थ के गुण-दोषों को जानने की जिनकी इच्छा है, उनके लिये यह स्तोत्र [**हिताऽन्वेषोपायः**] 'हितान्वेषण के उपायस्वरूप' [**तव**] आपकी [**गुण-कथा-सङ्ग-गदितः**] गुण-कथा के साथ कहा गया है।

हे वीर भगवन्! हमारा यह स्तोत्र आप जैसे भव-पाश-छेदक (संसार-रूपी बेड़ी को नष्ट करने वाले) मुनि के प्रति रागभाव से नहीं है और न हो सकता है। इधर हम तो परीक्षा-प्रधानी हैं, उधर आप दोषों और दोषाऽऽशयों के पाशबन्धन (बेड़ियों) से सर्वथा विमुक्त हैं। आपने समस्त दोषों अर्थात् विभाव-परिणामरूप भावकर्मों (अज्ञान, अदर्शन, राग, द्वेष, काम, क्रोधादि विकारों) तथा दोषाऽऽशयों अर्थात् उनके संस्कारक कारणों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तरायरूप द्रव्यकर्मों) के पाशबन्धन को छिन्न-भिन्न कर स्वतन्त्रता प्राप्त की है। आपने तो भव-पाश को छेदकर संसार से अपना सम्बन्ध ही अलग कर लिया है; ऐसी हालत में आपके प्रति हमारा राग-भाव इस स्तोत्र की उपपत्ति का

कोई कारण नहीं हो सकता।

दूसरों के प्रति द्वेषभाव से भी इस स्तोत्र का कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि एकान्तवादियों के साथ अर्थात् उनके व्यक्तित्व के प्रति हमारा कोई द्वेष नहीं है। हम तो दुर्गुणों की कथा के अभ्यास को खलता (दुष्टता, खोटा अभिप्राय) समझते हैं और उस प्रकार का अभ्यास न होने से वह 'खलता' हममें नहीं है। इसलिये दूसरों के प्रति द्वेषभाव भी इस स्तोत्र की उपपत्ति का कारण नहीं हो सकता।

तब फिर इसका हेतु अथवा उद्देश्य क्या है? इसका उद्देश्य यही है कि जो लोग न्याय-अन्याय को पहचानना चाहते हैं और प्रकृत पदार्थ के गुण-दोषों को जानने की जिनकी इच्छा है, उनके लिये यह स्तोत्र 'हितान्वेषण के उपायस्वरूप' (अर्थात् अपने हित की खोज के उपाय-स्वरूप) आपकी गुण-कथा के साथ कहा गया है।

इसके सिवाय, जिस भव-पाश को आपने छेद दिया है उसे छेदना, अपने और दूसरों के संसार-बन्धनों को तोड़ना, हमें भी इष्ट है और इसलिये यह प्रयोजन भी इस स्तोत्र की उपपत्ति का एक हेतु है।

इस तरह समन्तभद्राचार्य द्वारा रचित यह स्तोत्र इन तीन उद्देश्यों से प्रेरित हुआ है-

1) वस्तु-स्वरूप के निर्णायक तथा पथ-प्रदर्शक प्रभु वीर जिनेन्द्र में उत्कृष्ट श्रद्धा,
2) गुणज्ञता अर्थात् भगवान् वीर जिनेन्द्र के अनन्त वैभव और अनन्त गुणों को जानकर, उनकी अभिव्यक्ति, और
3) लोकहित की दृष्टि अर्थात् लोगों को सन्मार्ग मिलने की उत्तम भावना।

हे महावीर स्वामी! अतः आप ही स्तुति के योग्य हैं-

इति स्तुत्यः स्तुत्यैस्त्रिदशमुनिमुख्यैः प्रणिहितैः
स्तुतः शक्त्या श्रेयः पदमधिगतस्त्वं जिन! मया ।
महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये
विधेया मे भक्तिं पथि भवत एवाऽप्रतिनिधौ ।।६४।।

अन्वयार्थ - [**जिन!**] हे वीर जिन! [**त्वं**] आप [**दुरित-पर-सेनाभिविजये**] दुरित-पर की (मोहादिरूप कर्म-शत्रुओं की) सेना को पूर्णरूप से पराजित करने से [**वीरः**] वीर हैं, [**श्रेयः पदं**] निःश्रेयस पद को [**अधिगतः**] अधिगत (प्राप्त) करने से [**महावीरः**] महावीर हैं और [**त्रिदश-मुनिमुख्यैः**] देवेन्द्रों और मुनीन्द्रों (गणधरदेवादिकों) जैसे [**स्तुत्यैः**] स्वयं स्तुत्यों के द्वारा [**प्रणिहितैः**] एकाग्रमन से [**स्तुत्यः**] स्तुत्य हैं। [**इति**] इसी से [**मया**] मेरे (मुझ परीक्षाप्रधानी के) द्वारा [**शक्त्या**] शक्ति के अनुरूप [**स्तुतः**] स्तुति किये गये हैं। अतः [**पथि एव**] अपने ही मार्ग में, [**भवतः अप्रतिनिधौ**] जो प्रतिनिधिरहित है, [**मे**] मेरी [**भक्तिं**] भक्ति को [**विधेया**] सविशेषरूप से चरितार्थ करो।

हे वीर जिनेन्द्र! आप दुरित-पर की अर्थात् मोहादिरूप कर्म-शत्रुओं की सेना को पूर्णरूप से पराजित करने से वीर हैं, अर्थात् वीर्यातिशय को प्राप्त हैं। निःश्रेयस पद को अधिगत (प्राप्त) करने से महावीर हैं, और देवेन्द्रों और मुनीन्द्रों (गणधरदेवादिकों) जैसे स्वयं स्तुत्यों के द्वारा एकाग्रमन से स्तुत्य हैं। इसी से मुझ परीक्षाप्रधानी के द्वारा शक्ति के अनुरूप स्तुति किये गये हैं। अतः अपने ही मार्ग में अर्थात् अपने द्वारा अनुष्ठित एवं प्रतिपादित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में, जो प्रतिनिधिरहित है (अर्थात् अन्ययोगव्यवच्छेद रूप से निर्णीत है, दूसरा कोई भी मार्ग उसके समकक्ष या उसके स्थान पर प्रतिष्ठित होने के योग्य नहीं है), मेरी भक्ति को सविशेषरूप से चरितार्थ करो।

आपके मार्ग की अमोघता और उससे अभिमत (इष्ट) फल की सिद्धि को देखकर मेरा अनुराग (भक्तिभाव) उसके प्रति उत्तरोत्तर बढ़े जिससे मैं भी उसी मार्ग की आराधना-साधना करता हुआ कर्मशत्रुओं की सेना को जीतने में समर्थ होऊँ और निःश्रेयस

(मोक्ष) पद को प्राप्त करके सफल मनोरथ हो सकूँ, क्योंकि सच्ची सविवेक-भक्ति ही मार्ग का अनुसरण करने में परम सहायक होती है और जिसकी स्तुति की जाती है उसके मार्ग का अनुसरण करना अथवा उसके अनुकूल चलना ही स्तुति को सार्थक करता है, इसी से स्तोत्र के अन्त में ऐसी फलप्राप्ति की प्रार्थना अथवा भावना की गई है।

इति श्रीनिरवद्यस्याद्वादविद्याधिपति-सकलतार्किकचक्रचूडामणि-श्रद्धागुणज्ञतादि-सातिशयगुणगणविभूषित-सिद्धसारस्वत-स्वामिसमन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीतं हितान्वेषणोपायभूतं युक्त्यनुशासनं स्तोत्रं समाप्तम् ।

श्री विद्यानन्दाचार्य ने इस स्तोत्र की संस्कृत-टीका **'युक्त्यनुशासनालङ्कार'**[1] के अन्त में स्तुत्याभिनन्दन और ग्रन्थ-प्रशस्त्यादि के रूप में दो पद्य इस प्रकार से दिये हैं-

स्थेयाज्जातजयध्वजाऽप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः
प्रध्वस्ताऽखिलदुर्नयद्विषदिभः सन्नीतिसामर्थ्यतः ।
सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्गमथनोऽर्हन्वीरनाथः श्रिये
शश्वत्संस्तुतिगोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥१॥

अपनी नीतियुक्त सामर्थ्य से जिनके द्वारा विद्वेषियों के सम्पूर्ण दुर्नयों को ध्वस्त किया गया है और जिन्होंने अपनी अमोघ (अचूक) जय-पताका को फहराया है, ऐसे प्रभु उस जय-पताका को स्थायित्व प्रदान करें। त्रिविध सन्मार्ग बताने वाले और कुमार्ग का मथन करने वाले मुक्तिरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति के लिये श्रीयुक्त सत्य वाक्याधिप वीर प्रभु अर्हन्त निष्कलंक बुद्धि में हमेशा स्तुतिगोचर रहें।

श्रीमद्वीरजिनेश्वराऽमलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याऽखिलम् ।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गाऽनुगै-
र्विद्यानन्दबुधैरलंकृतमिदं श्रीसत्यवाक्याधिपैः ॥२॥

---

1. देखें, **'युक्त्यनुशासनम् - युक्त्यनुशासनालङ्कारटीकया'**, पृ. 422-423

श्रीमान् वीर जिनेश्वर के दोषरहित गुणों के स्तोत्र को परिप्रेक्षण-पूर्वक साक्षात् स्वामी समन्तभद्र गुरुवर्य के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वों की समीक्षा कर युक्त्यनुशासन को कहा गया है। एकान्तवादों पर विजय और स्याद्वाद मार्ग पर चलने की कामना से आचार्य विद्यानन्द द्वारा श्री-सम्पन्न सत्य और श्रेष्ठ वाक्यों द्वारा इस युक्त्यनुशासन को अलंकृत किया गया है।

* * *

**सारस्वताचार्यों में प्रमुख, जिनशासन के प्रणेता, वाग्वज्र के कठोर पात के द्वारा वादिरूपी पर्वतों को चूर्ण-चूर्ण करने वाले,
सप्तभंगी का परिष्कृत प्रयोग कर अनेकान्त की व्यवस्था प्रदर्शित करने वाले,
कवित्व, गमकत्व, वादित्व और वाग्मित्व की पाण्डित्यकला से अलंकृत,
तथा श्रीमत् इन्द्र भूपालों से और महान् योगियों से जिनके चरणयुगल पूजे जाते हैं, मैं अल्पबुद्धि भी, जैसे दीपक की ज्योति से सूर्य पूजा जाता है उसी के सदृश, अपना शिर झुकाकर तथा अपने दोनों हाथों को मस्तक पर लगाकर, उन भद्रमूर्ति समन्तभद्रस्वामी के चरणकमलों की भक्तिपूर्वक वन्दना करता हूँ।**

**तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, युक्त्यनुशासनालङ्कार और सत्यशासनपरीक्षा जैसे न्याय के मूर्धन्य ग्रन्थों का प्रणयन कर आचार्य अकलंकदेव के द्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाणपद्धति को पल्लवित और पुष्पित करने वाले,
पुरुषाद्वैत, शब्दाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, भाट्ट आदि के मंतव्यों की समीक्षा कर मुझ जैसे अल्पज्ञ को आचार्य समन्तभद्रस्वामी के द्वारा प्रतिपादित महान् और अतिविशिष्ट आगमिक सिद्धान्तों का समीचीन बोध कराने वाले,
यशःशाली आचार्य विद्यानन्द की गुणकीर्ति इस जगत् में जयवन्त रहे।**

परिशिष्ट-१

सहायक ग्रन्थ सूची

1. अनुवादक-परिचायक - पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' (1951), **श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत युक्त्यनुशासन,** वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर, प्रथम संस्करण.
2. अनुवादक-सम्पादक - डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन (2017), **श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्य-प्रणीतं युक्त्यनुशासनम् - श्रीमद्विद्यानन्दकृता युक्त्यनुशासनालङ्कारटीकया,** आचार्य कुन्दकुन्द जैन विद्या केन्द्र, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन मन्दिर, कविनगर, गाजियाबाद.
3. क्षु. मनोहरजी वर्णी 'सहजानन्द' (1977), **युक्त्यनुशासन प्रवचन,** श्री सहजानन्द शास्त्रमाला, 185-ए रणजीतपुरी, सदर मेरठ.
4. साहित्यशस्त्री पं. इन्द्रलाल (वि. सं. 1977), **श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यप्रणीतं युक्त्यनुशासनम् - श्रीविद्यानन्दाचार्यविरचितया टीकया समन्वितं,** माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति.
5. सम्पादन - डॉ. गोकुलचन्द्र जैन (2015), **समन्तभद्रभारती,** आचार्य शान्तिसागर छाणी स्मृति ग्रन्थमाला, बुढ़ाना, मुजफ्फरनगर.
6. (2017), **समन्तभद्र भारती,** जैन विद्यापीठ, सागर (म.प्र.).
7. (1965), **श्री भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य विरचित पंचास्तिकाय प्राभृत - श्रीमदमृतचन्द्र सूरिकृत 'समयव्याख्या' नामक, श्रीमज्जयसेनाचार्य विरचित 'तात्पर्यवृत्ति' टीका तथा उनका हिन्दी शब्दार्थ,** श्री शांतिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, श्रीमहावीरजी.
8. सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द्र शास्त्री (2010), **आचार्य पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि,** भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, सोलहवाँ संस्करण.
9. डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य (2015), **आचार्य जिनसेन विरचित आदिपुराण,** भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, सोलहवाँ संस्करण.
10. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन (1982), **भट्टाकलंकदेवविरचितम् तत्त्वार्थवार्तिकम् (राजवार्तिकम्),** भारतीय ज्ञानपीठ, बी/45-47, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-110001.
11. सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री (2013), **माइल्लधवल-विरचित णयचक्को**

(नयचक्र), भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, पाँचवाँ संस्करण.

12. टीकाकर्त्री - श्री ज्ञानमती माताजी (1889), **श्रीमद्भगवद्विद्यानंदाचार्य विरचित अष्टसहस्त्री**, प्रथम भाग, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, मेरठ, द्वितीय संस्करण.
13. सम्पादन-अनुवाद - सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री (2013), **पण्डितप्रवर आशाधर विरचित धर्मामृत (अनगार)**, भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, छठवाँ संस्करण.
14. सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री (2010), **जैन न्याय,** भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, चौथा संस्करण.
15. अनुवादक - पं. विजयमूर्ति शास्त्राचार्य (1976), **आचार्यश्रीसिद्धसेनदिवाकर विरचितः न्यायावतारः**, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, द्वितीय संस्करण.
16. सम्पादक - प्रो. उदयचन्द्र जैन (2012), **आचार्य समन्तभद्र द्वारा विरचित आप्तमीमांसा - तत्त्वदीपिका व्याख्या**, श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी.
17. अनुवादक - पं. रतनचन्द्र जैन, मुख्तार (2017), **श्रीदेवसेनाचार्यविरचिता आलापपद्धति**, जैन विद्यापीठ, सागर (म.प्र.).
18. संपादक तथा अनुवादक - पं. डॉ. दरबारीलाल कोठिया (2017), **श्रीमदभिनव-धर्मभूषणयतिविरचिता न्यायदीपिका,** जैन विद्यापीठ, सागर (म.प्र.).
19. (2017), **आचार्य माणिक्यनन्दि विरचित परीक्षामुखसूत्र,** जैन विद्यापीठ, सागर (म.प्र.).
20. अनुवादक - पं. हीरालाल जैन (2017), **लघु अनन्तवीर्य विरचित प्रमेयरत्नमाला**, जैन विद्यापीठ, सागर (म.प्र.).
21. अनुवादिका - श्री आर्यिका जिनमतीजी (1972), **श्री प्रभाचन्द्राचार्य प्रणीत प्रमेयकमल मार्तण्ड**, श्री लाला मुसद्दीलाल जैन चैरीटेबल ट्रस्ट, देहली-110006.
22. डॉ. ए. एन. उपाध्ये एवं सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री (2014), **आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ति रचित गोम्मटसार कर्मकाण्ड,** भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003, छठा संस्करण.
23. लेखिका - श्री ज्ञानमती माताजी (2014), **न्यायसार**, दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर, मेरठ, प्रथम संस्करण.

24. Chakravarti Nayanar, A. (Prof.) (2009), *"Ācārya Kundakunda's Pañcāstikāya-Sāra"*, Bharatiya Jnanpith, 18 Institutional Area, Lodi Road, New Delhi, Third Edition.
25. Jain, Vijay K. (2016), "*Ācārya Samantabhadra's Āptamīmāṃsā (Devāgamastotra) – Deep Reflection On The Omniscient Lord"*, Vikalp Printers, Dehradun.
26. Jain, Vijay K. (2015), "*Ācārya Samantabhadra's Svayambhūstotra – Adoration of The Twenty-four Tīrthaṅkara",* Vikalp Printers, Dehradun.
27. Jain, Vijay K. (2016), "*Ācārya Samantabhadra's Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra – The Jewel-casket of Householder's Conduct",* Vikalp Printers, Dehradun.
28. Jain, Vijay K. (2018), "*Ācārya Kundakunda's Pravacanasāra – Essence of the Doctrine",* Vikalp Printers, Dehradun.
29. Jain, Vijay K. (2018), "*Ācārya Umāsvamī's Tattvārthasūtra – With Explanation in English from Ācārya Pūjyapāda's Sarvārtha-siddhi*", Vikalp Printers, Dehradun.
30. Jain, Vijay K. (2019), "*Ācārya Guṇabhadra's Ātmānuśāsana – Precept on the Soul",* Vikalp Printers, Dehradun.
31. Jain, Vijay K. (2020), "*Ācārya Kundakunda's Pañcāstikāya-saṃgraha– The Jaina Metaphysics",* Vikalp Printers, Dehradun.

परिशिष्ट-२

'युक्त्यनुशासन' के अन्तर्गत विशिष्ट शब्द-सूची

* * *

परिशिष्ट–३

‘युक्त्यनुशासन’ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या

अतिप्रसंग दोष – अनभिप्रेत को साध्य माना जाये तो ‘अतिप्रसंग’ नाम का दोष आता है। ‘यह साधन इसी साध्य का है’, ऐसा प्रतिनियम न बन सकना।

अत्यन्ताभाव – एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में सर्वथा अभाव अत्यन्ताभाव है। अत्यन्ताभाव के न मानने पर एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में समवाय–सम्बन्ध (तादात्म्य) स्वीकृत होता है। ऐसा होने पर किसी भी इष्ट तत्त्व का सर्वथा भेदरूप से कोई व्यपदेश (कथन) – जैसे यह चेतन है, और यह अचेतन है – नहीं हो सकेगा।

अनवस्था दोष – एक से दूसरे की, दूसरे से तीसरे की और तीसरे से चौथे की उत्पत्ति, इस तरह कहीं भी ठहराव नहीं होना। जेसे ईश्वर–कर्तृत्व में अनवस्था दोष आता है क्योंकि संसार का कर्ता ईश्वर है, ईश्वर का कर्ता अन्य है और उस अन्य का कर्ता कोई दूसरा ही है। इस प्रकार कल्पनाओं का कहीं विराम न होना अनवस्था दोष है।

अनेकान्तात्मक शासन – भगवान् वीर जिन का अनेकान्तात्मक शासन दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि (प्रशस्तध्यान) को निष्ठा–तत्परता से लिये हुए है। पूर्णतः अथवा देशतः प्राणीहिंसा से निवृत्ति तथा परोपकार में प्रवृत्तिरूप दया (अहिंसा) व्रत है। इसी में असत्यादि से विरक्तिरूप सत्यव्रतादि का अन्तर्भाव (समावेश) है। मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रिय विषयों में राग–द्वेष की निवृत्तिरूप दम अर्थात् संयम है। बाह्य और आभ्यान्तर परिग्रहों का स्वेच्छा से त्यजन त्याग है। धर्मध्यान और शुक्लध्यान – इन दो प्रकार के प्रशस्त ध्यान को समाधि की संज्ञा दी गई है।

अनेकान्तात्मक जैन दर्शन के अनुसार पदार्थों में स्वभाव से ही सामान्य–विशेष की प्रतीति होती है क्योंकि सामान्य–विशेष पदार्थों के ही गुण हैं, कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं। धर्मी से धर्म भिन्न नहीं हो सकता, अतएव सामान्य–विशेष को भिन्न पदार्थ स्वीकार करना अयुक्तियुक्त है।

अनेकान्त दर्शन के अनुसार धर्म–धर्मी, कार्य–कारण (मोक्ष बन्ध–पूर्वक होता है) आदि की सत्ता न तो सर्वथा सापेक्ष और न सर्वथा निरपेक्ष है, किन्तु कथंचित् सापेक्ष और

कथंचित् निरपेक्ष पक्ष का आश्रय लेना ही उचित है। धर्म और धर्मी का परस्पर में जो अविनाभाव है, केवल वही परस्पर में सापेक्षता से सिद्ध होता है। धर्म और धर्मी का स्वरूप परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध नहीं होता; वह तो स्वतः सिद्ध है।

अनेकान्त दर्शन स्याद्वाद को लिए हुए है। स्याद्वाद से शून्य वस्तु-स्वरूप वास्तविक नहीं है; वह सर्वथा एकान्त है और सर्वथा एकान्त अवस्तु होता है।

अन्यथानुपपत्ति – अन्यथा+अनुपपत्ति; अर्थात् अन्यथा उपपत्ति नहीं हो सकती। इसमें व्यतिरेक व्याप्ति दिखाई जाती है – साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाना अन्यथानुपपत्ति है। उदाहरण – यह प्रदेश अग्नि वाला है (-प्रतिज्ञा) क्योंकि अग्नि वाला नहीं होने पर धूम वाला (-हेतु) अन्यथा हो नहीं सकता; इसमें व्यतिरेक व्याप्ति घटित हुई।

अन्याऽपोह – अन्याऽपोह का अर्थ है विवक्षित वस्तु से अन्य का अपोह (निषेध), अर्थात् अन्य के निषेध के शब्दार्थपने की कल्पना करना। जैसे 'गो' शब्द का वाच्य गो व्यक्ति न होकर अगो व्यावृत्ति है। 'गो' शब्द गाय में अगो की व्यावृत्ति करता है, अर्थात् यह हाथी नहीं है, घोड़ा नहीं है, मनुष्य नहीं है, इत्यादि प्रकार से अगो का निषेध करता है और अगो का निषेध करने पर जो बचता है उसका ज्ञान स्वतः शब्द के बिना ही हो जाता है।

अन्योन्याभाव – एक स्वभाव के दूसरे स्वभाव की व्यावृत्ति, अर्थात् वस्तु के एक रूप का दूसरे रूप में अभाव, का नाम अन्योन्याभाव है। यदि अन्योन्याभाव अथवा इतरेतराभाव का व्यतिक्रम किया जाए अर्थात् अन्योन्याभाव के न मानने पर किसी का जो एक इष्ट तत्त्व है वह अभेदरूप सर्वात्मक हो जाएगा।

अन्वय और व्यतिरेक – अन्वय अर्थात् कारण के होने पर कार्य का होना। इस प्रकार अन्वय (अथवा अनुवृत्ति) भाव-स्वरूप है। कारण के अभाव में कार्य के अभाव को व्यतिरेक सम्बन्ध कहते हैं।

अर्थक्रिया – अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण है। अर्थ माने कार्य और उसकी क्रिया माने करना अर्थात् कार्य को करने का नाम 'अर्थक्रिया' है। जिसमें अर्थक्रिया होती है वही परमार्थ सत् है। वस्तु का लक्षण अर्थक्रिया करना है। जो कुछ भी अर्थक्रिया नहीं करता है उसका अस्तित्व ही संभव नहीं है। अर्थक्रिया दो प्रकार से होती है – क्रम से और युगपत्।

जिसमें कुछ भी परिणमन नहीं होता है, चाहे वह क्षणिक हो या नित्य, उसमें न क्रम से अर्थक्रिया हो सकती है और न युगपत्। अर्थक्रिया के अभाव में सत्त्व का अभाव भी सुनिश्चित है।

अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय – पर्याय के दो भेद हैं – अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्याय। इनमें अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, ज्ञान का विषय है, शब्दों से नहीं कही जा सकती और क्षण–क्षण में नाश होती रहती है। किन्तु व्यंजन पर्याय स्थूल है, शब्दगोचर है अर्थात् शब्दों द्वारा कही जा सकती है और चिरस्थायी है।

अविनाभाव – सहभाव नियम और क्रमभाव नियम को अविनाभाव कहते हैं। सहचारी और व्याप्य–व्यापक पदार्थों में सहभाव नियम होता है। जैसे सहचारी रूप और रस में अथवा व्याप्य–व्यापक वृक्षत्व और शिंशपात्व में सहभाव नियम होता है। पूर्वचर और उत्तरचर तथा कार्य और कारण में क्रमभाव नियम होता है। कृत्तिका नक्षत्र का उदय और उसके एक मुहूर्त पीछे शकट (रोहिणी) नक्षत्र का उदय, यह पूर्वचर और उत्तरचर नियम कहलाता है। अग्नि कारण है और धूम उसका कार्य है यह कार्य और कारण क्रमभाव नियम कहलाता है।

आप्त – मोक्षमार्ग के प्रवर्तक, कर्मरूपी पर्वतों के भेदक अर्थात् नष्ट करने वाले, तथा विश्व के (समस्त) तत्त्वों के जानने वाले। आपकी वाणी 'युक्तिशास्त्राऽविरोधिनी' है। आप तीन असाधारण गुणों – कर्मभेत्तृत्व, सर्वज्ञत्व और परमहितोपदेशकत्व – से विशिष्ट हैं। आपने कर्मरूपी पर्वतों को नष्ट कर दिया है इसलिए आप में कर्मभेत्तृत्व है, आपने विश्व के (समस्त) तत्त्वों को जान लिया है इसलिए आप में सर्वज्ञत्व है तथा आप मोक्षमार्ग के प्रवर्तक हैं इसलिए आप में परमहितोपदेशकत्व है।

ऋजुसूत्र–नय – जो नय ऋजु अर्थात् अवक्र, सरल को सूचित अथवा ग्रहण करता है वह ऋजुसूत्र–नय है।

केवली भगवान् – संवर के द्वारा जिसकी परम्परा की जड़ काट दी गई है और चारित्र–ध्यानाग्नि के द्वारा जिसकी सत्ता का सर्वथा लोप कर दिया है उस मोहनीय का क्षय हो जाने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय होते ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है। (साधक) समस्त मोहनीय कर्म का निर्मूल क्षय करके क्षीणकषाय गुणस्थान में

मोहनीय का समस्त भार उतार कर फैंक देता है। वह उपान्त्य समय में निद्रा-प्रचला का क्षय करके पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पाँच अन्तरायों का अन्त समय में विनाश कर अचिन्त्यविभूतियुक्त केवलज्ञान-दर्शनस्वभाव को निष्प्रतिपक्षीरूप से प्राप्त कर कमल की तरह निर्लिप्त और निरुपलेप होकर साक्षात् त्रिकालवर्त्ती सर्व द्रव्य-पर्यायों का ज्ञाता, सर्वत्र अप्रतिहत, अनन्तदर्शनशाली, कृतकृत्य, मेघपटलों से विमुक्त शरत्कालीन पूर्णचन्द्र की तरह सौम्यदर्शन और प्रकाशमानमूर्ति केवली हो जाता है।

क्षणसंतति - बौद्ध लोग दीपक की लौ के समान नये-नये उत्पन्न होने वाले अपर-अपर सदृश पूर्व और उत्तर क्षणों की परम्परा को क्षणसंतति कहते हैं। जिस प्रकार दीपक की लौ के प्रत्येक क्षण में बदलते रहने पर भी लौ के पूर्व और उत्तर क्षणों में परस्पर सदृश ज्ञान होने के कारण, यह वही लौ है, ऐसा ज्ञान होता है उसी तरह पदार्थों के प्रत्येक क्षण में बदलते रहने पर भी पदार्थों के पूर्व और उत्तर क्षणों में सदृश ज्ञान होने के कारण यह वही पदार्थ है, ऐसा ज्ञान होता है। इसे ही बौद्ध मत में क्षणसंतति कहा है।

चार्वाक (भूतचैतन्यवाद) - ये आत्मा को नहीं मानते। इनके मत में चार ही तत्त्व माने गये हैं - पृथिवी, जल, अग्नि और वायु। इन चारों को ही भूतचतुष्टय कहते हैं। इन भूतों से ही चैतन्य उत्पन्न होता है। चार्वाक मत के अनुसार परलोक के लिए व्रत, नियम आदि क्रियाओं का अनुष्ठान करना व्यर्थ है। इनके अनुसार वर्तमान सामग्री को छोड़कर भविष्यत् की आशा से उसके लिए प्रयत्न करना मूर्खता है।

प्रत्यभिज्ञान - वर्तमान में पदार्थ का दर्शन और पूर्व में देखे हुए का स्मरण जिसमें कारण हो ऐसे संकलन अर्थात् जोड़रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे- 'यह वही है', यह एकत्व-प्रत्यभिज्ञान है।

प्रध्वंसाभाव - पदार्थ के नाश होने के बाद का जो अभाव है, वह प्रध्वंसाभाव है। यदि प्रध्वंसाभाव का लोप किया जाए तो वह कार्य-रूप द्रव्य अनन्त - विनाश-विहीन - हो जाता है।

प्रमाण और नय - अक्रमभावी केवलज्ञान, तथा स्याद्वाद तथा नय से संस्कृत आप्त की क्रमभावी वाणी तत्त्वज्ञानरूप प्रमाण हैं। प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार से ग्रहण की गई वस्तु के एक धर्म अर्थात् अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। आप्त की वाणी

वस्तुतत्त्व को नयों तथा प्रमाणों के द्वारा बिल्कुल स्पष्ट करने वाली है और दूसरे सभी प्रवादों (सर्वथा एकान्तवादों) से अबाध्य होने के कारण सुव्यवस्थित है। प्रमाण से अनेकान्तात्मक वस्तु का ही निश्चय होता है और सम्यक् नय से प्रतिपक्ष की अपेक्षा रखने वाले एकान्त का व्यवस्थापन होता है। जो वचन कालादिक की अपेक्षा अभेदवृत्ति की प्रधानता से या अभेदोपचार से प्रमाण के द्वारा स्वीकृत अनन्त धर्मात्मक वस्तु का एक साथ कथन करता है उसे सकलादेश कहते हैं। और जो वचन कालादिक की अपेक्षा भेदवृत्ति की प्रधानता से या भेदोपचार से नय के द्वारा स्वीकृत वस्तु-धर्म का क्रम से कथन करता है उसे विकलादेश कहते हैं। प्रमाण सकलादेशी होता है और नय विकलादेशी।

प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव – वस्तु की उत्पत्ति के पहले जो जो अभाव रहता है, वह प्रागभाव है। प्रागभाव (प्राक्+अभाव) का यदि लोप किया जाए तो घट आदि कार्य-रूप द्रव्य अनादि – उत्पत्ति-विहीन – हो जाता है।
पदार्थ के नाश होने के बाद का जो अभाव है, वह प्रध्वंसाभाव है।

ममकार और अहंकार – मोह के उदय से ममकार और अहंकार होते हैं। जो सदा आत्मा के नहीं हैं और कर्म के उदय से बने हैं ऐसे अपने शरीर वगैरह में 'यह मेरा है' इस प्रकार का अभिप्राय ममकार है – जैसे 'मेरा शरीर'। जो भाव कर्मजन्य हैं और निश्चय से आत्मा से भिन्न हैं उन्हें अपना मानना अहंकार है – जैसे 'मैं राजा हूँ'।
ममकार और अहंकार मोहनीय राजा के सचिव जैसे हैं। ये निरन्तर रागादिरूप अपने समस्त परिवार के पोषण करने में उद्यमशील रहते हैं।

महासत्ता और अवांतरसत्ता – समस्त पदार्थों में रहने वाली सत्ता को महासत्ता कहते हैं और प्रत्येक वस्तु की प्रथक्-प्रथक् सत्ता अवांतरसत्ता कहलाती है। तात्पर्य यह है कि जब हम सत्-सामान्य को व्यापक दृष्टिकोण से देखते हैं तब सभी पदार्थ सत्-रूप ही प्रतीत होते हैं, यही महासत्ता है। जब प्रतिनियत वस्तु के अस्तित्व को देखते हैं तब यह सत्ता अवांतरसत्ता कहलाती है।

माध्यमिक (शून्यवाद) – बौद्ध दर्शन का एक भेद। बुद्ध के द्वारा प्रतिपादित मध्यममार्ग के अनुयायी होने के कारण इस मत का नाम माध्यमिक पड़ा है तथा शून्य को परमार्थ मानने के कारण यह शून्यवाद भी कहा जाता है। माध्यमिकों के अनुसार विज्ञान की भी

सत्ता नहीं है; जब अर्थ ही नहीं है तो ज्ञान को मानने की भी क्या आवश्यकता है? इनके अनुसार शून्य ही परमार्थ तत्त्व है।

युक्त्यनुशासन – प्रत्यक्ष (दृष्ट) और आगम से अविरोधरूप (अबाधित विषयस्वरूप) अर्थ (वस्तु) का जो अर्थ से प्ररूपण है, उसे युक्त्यनुशासन (युक्ति-वचन) कहते हैं। दृष्ट प्रत्यक्ष है और आप्तवचन आगम है।

योगाचार (विज्ञानवाद) – बौद्ध दर्शन का एक भेद। इस मत के अनुसार बाह्य पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। केवल अन्तरंग पदार्थ (विज्ञान) की ही सत्ता है। विज्ञान को चित्त, मन तथा विज्ञप्ति भी कहते हैं। चित्त को छोड़कर अन्य कोई पदार्थ सत् नहीं है। यद्यपि बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं है, फिर भी अनादिकाल से चली आ रही वासना के कारण विज्ञान का बाह्यार्थरूप से प्रतिभास होता है।

वैभाषिक – बौद्ध दर्शन का एक भेद। वैभाषिकों के अनुसार बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। ये बाह्य तथा अभ्यन्तर समस्त धर्मों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

व्यभिचार दोष – हेतु के रहने पर साध्य के न रहने को 'व्यभिचार' दोष कहते हैं।

व्यवहार-नय – संग्रह नय से ग्रहण किये हुए पदार्थ को भेदरूप से व्यवहार करता है, ग्रहण करता है वह व्यवहार-नय है।

संकर दोष – वस्तु में अनेक धर्मों की युगपत् प्राप्ति को संकर दोष कहते हैं। अथवा, सर्व वस्तुओं का परस्पर मिलकर एक हो जाना।

संवृति – बौद्धों द्वारा भिन्न-भिन्न क्षणों में उत्पन्न होने वाले चित्तों में एकत्व के आरोपण करने को 'संवृति' संज्ञा दी गई है। क्षणिक चित्तों में संवृति (एकत्व) के बोध से बन्ध और मोक्ष माने गये हैं।

सप्तभंगी – प्रश्न के अनुसार एक वस्तु में प्रमाण से अविरुद्ध विधि-प्रतिषेध धर्मों की कल्पना सप्तभंगी है।
विधि, निषेध और अनभिलाप्यता (अवक्तव्यता), ये एक-एक करके (पद के) तीन मूल

विकल्प हैं। 'स्यादस्त्येव' यह विधि है। 'स्यान्नास्त्येव' यह निषेध है। 'स्यादनभिलाप्यमेव' अथवा 'स्यादवक्तव्यमेव' यह अर्थजात अनभिलाप्यता (अवक्तव्यता) है। इनके विपक्षभूत धर्म की संधि-संयोजना रूप से द्विसंयोजक तीन विकल्प होते हैं- 'स्यादस्ति-नास्त्येव', 'स्यादस्त्यवक्तव्यमेव' और 'स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव'। और त्रिसंयोजक एक ही विकल्प है- 'स्यादस्ति-नास्त्यवक्तव्यमेव'।

इन सप्तभंगों को निम्न प्रकार से भी कहते हैं- 1. विधिकल्पना; 2. प्रतिषेधकल्पना; 3. क्रम से विधि-प्रतिषेधकल्पना; 4. एक साथ विधि-प्रतिषेधकल्पना (अवक्तव्य); 5. विधिकल्पना के साथ, एक साथ विधि-प्रतिषेधकल्पना; 6. प्रतिषेधकल्पना के साथ, एक साथ विधि-प्रतिषेधकल्पना; और 7. क्रम से विधि-प्रतिषेधकल्पना के साथ, एक साथ विधि-प्रतिषेधकल्पना।

इस तरह से ये सात विकल्प सम्पूर्ण अर्थभेद में (सम्पूर्ण जीवादितत्त्वार्थ-पर्यायों में, न कि किसी एक पर्याय में) घटित होते हैं। ये सब विकल्प 'स्यात्' शब्द के द्वारा नेय हैं, नेतृत्व को प्राप्त हैं। अर्थात् एक विकल्प के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग होने से शेष छहों विकल्प उसके द्वारा गृहीत होते हैं, उनके पुनः प्रयोग की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि स्यात्पद के साथ में रहने से उनके अर्थविषय में विवाद का अभाव होता है। जहाँ कहीं विवाद हो वहाँ उनके क्रमशः प्रयोग में भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक प्रतिपाद्य के भी सप्त प्रकार की विप्रतिपत्तियों का सद्भाव होता है अर्थात् उतने ही संशय उत्पन्न होते हैं, उतनी ही जिज्ञासाओं की उत्पत्ति होती है और उतने ही प्रश्नवचनों की प्रवृत्ति होती है और प्रश्न के वश से एक वस्तु में अविरोध रूप से विधि-निषेध की जो कल्पना है उसी का नाम सप्तभङ्गी है।

समवाय सम्बन्ध - न्याय-वैशेषिक दर्शन वाले युतसिद्धों का संयोग सम्बन्ध और अयुतसिद्धों का समवाय सम्बन्ध मानते हैं। जैसे दण्ड और पुरुष युतसिद्ध हैं, उनका अस्तित्व जुदा-जुदा है, अतः उन दोनों का संयोग सम्बन्ध है और ज्ञान तथा आत्मा का अस्तित्व भी यद्यपि जुदा है, तथापि वे दोनों अयुतसिद्ध हैं अतः उनका समवाय सम्बन्ध है, ऐसा उनका मत है। किन्तु जैन मत कहता है कि ज्ञान तथा आत्मा या गुण-गुणी का अस्तित्व जुदा है ही नहीं; जो गुण के प्रदेश हैं वे ही गुणी के प्रदेश हैं और जो गुणी के प्रदेश हैं वे ही गुण के प्रदेश हैं। इस प्रकार उनमें प्रदेश-भेद न होने से भेद नहीं है। किन्तु फिर भी गुण और गुणी में नाम-भेद पाया जाता है, लक्षण-भेद पाया जाता है, संख्या-भेद पाया जाता है इस दृष्टि से वे भिन्न भी हैं, किन्तु वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।

सौत्रान्तिक – बौद्ध दर्शन का एक भेद। इनके अनुसार बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु अनुमान के द्वारा बाह्य पदार्थ का अनुमानरूप ज्ञान होता है। इनके मत में प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक होने के कारण उसका साक्षात्कार करना असंभव है। ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है। जिस क्षण में पदार्थ ज्ञान को उत्पन्न करता है उसी क्षण में वह नष्ट हो जाता है। फिर ज्ञान पदार्थ का साक्षात्कार कैसे कर सकता है?

स्याद्वाद – स्याद्वाद-रूप परमागम वाक्य, जिसके द्वारा संसार-महासमुद्र को तिरा जाता है, ही सर्वान्तवान् है अर्थात् सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक आदि अशेष (सभी) धर्मों को लिये हुए है और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिये हुए है। एक धर्म मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है, इसी से सुव्यवस्थित है, उसमें असंगतता अथवा विरोध के लिये कोई अवकाश नहीं है। स्याद्वाद शासन में जिस प्रकार अभेदबुद्धि से (द्रव्यत्वादि व्यक्ति की) अविशिष्टता (समानता) होती है, उसी प्रकार व्यावृत्तिबुद्धि से (भेदबुद्धि से) विशिष्टता (पर्याय-विशेष) की प्राप्ति होती है। जो मत पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता अर्थात् उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है, वह सर्व धर्मों से शून्य है। उसमें किसी भी धर्म का अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है। अत: स्याद्वाद-रूप जिन शासन ही सर्व दु:खों का अन्त करने वाला है, यही निरन्त है, किसी भी मिथ्यादर्शन के द्वारा खण्डनीय नहीं है, और यही सब प्राणियों के अभ्युदय (उन्नति) का साधक, ऐसा सर्वोदय-तीर्थ है।

स्याद्वाद-रूप जिन शासन अनेकान्त के प्रभाव से सकल दुर्नयों (परस्पर निरपेक्ष नयों) अथवा मिथ्यादर्शनों का निरसन (अन्त) करने वाला है। ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्तवादरूप मिथ्यादर्शन ही संसार में अनेक शारीरिक तथा मानसिक दु:खरूप आपदाओं के कारण होते हैं। जो लोग स्याद्वाद-रूप जिन शासन का आश्रय लेते हैं, उसे पूर्णतया अपनाते हैं, उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दु:ख मिट जाते हैं। वे अपना पूर्ण अभ्युदय अर्थात् उत्कर्ष एवं विकास सिद्ध करने में समर्थ हो जाते हैं।

हेत्वाभास – असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चितकर हेत्वाभास हैं। जिस हेतु की सत्ता का अभाव हो अथवा निश्चय न हो उसे असिद्ध-हेत्वाभास कहते हैं। अविद्यमान सत्ता वाला हेतु स्वरूपासिद्ध-हेत्वाभास है; जैसे 'शब्द परिणामी (अनित्य) है चाक्षुष होने से'। शब्द के लिये चाक्षुष हेतु स्वरूप से ही असिद्ध है। और पक्ष में जिस हेतु का निश्चय न हो उसे संदिग्धासिद्ध-हेत्वाभास कहते हैं; जैसे अजान व्यक्ति से यह कहना कि 'यहाँ

अग्नि है, धूम होने से'। उस व्यक्ति के लिये यह धूमहेतु संदिग्धासिद्ध-हेत्वाभास है।

साध्य से विपरीत पदार्थ के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो उसे विरुद्ध-हेत्वाभास कहते हैं; जैसे 'शब्द अपरिणामी है, क्योंकि वह कृतक है'। यहाँ अपरिणामित्व साध्य है परन्तु कृतकत्व हेतु उसके साथ व्याप्ति नहीं रखता; उससे विपरीत परिणामीपने के साथ व्याप्ति रखता है।

विपक्ष में भी अविरुद्ध प्रवृत्ति वाला अनैकान्तिक-हेत्वाभास है; जैसे 'शब्द अनित्य है प्रमेय होने से, घट के समान'। यहाँ अनैकान्तिक-हेत्वाभास है, क्योंकि 'प्रमेय'-हेतुत्व का निश्चय 'नित्य' आकाशरूप विपक्ष में भी होता है।

साध्य के होने पर अथवा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित होने पर हेतु अकिञ्चितकर होता है; जैसे 'शब्द कर्ण इन्द्रिय का विषय होता है, इसलिये सिद्ध है, शब्द होने से'। शब्द को कर्ण इन्द्रिय का विषय सिद्ध करने के लिये 'शब्दत्व' का हेतु देना अकिञ्चितकर-हेत्वाभास है।

परिशिष्ट-४

सर्व दर्शनों में मान्य मुख्य-मुख्य सिद्धान्त

चार्वाक - भूतचैतन्यवाद, प्रत्यक्षैक-प्रमाणवाद।

बौद्ध - निर्विकल्प-प्रत्यक्षवाद, साकार-ज्ञानवाद, क्षणभंगवाद, चित्राद्वैतवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, शून्यवाद, त्रैरूप्यहेतुवाद, अपोहवाद।

सांख्य - प्रकृतिकर्तृत्ववाद, अचेतनज्ञानवाद, इंद्रियवृत्तिवाद, सत्कार्यवाद, नित्यैकांतवाद।

नैयायिक वैशेषिक - षोडशपदार्थवाद, सप्तपदार्थवाद सन्निकर्षवाद, कारकसाकल्यवाद, ज्ञानान्तरवेद्यज्ञानवाद, ईश्वरकर्तृत्ववाद, पांचरूप्यहेतुवाद, समवायवाद।

मीमांसक - वेद अपौरुषेवाद, परोक्षज्ञानवाद, अभावप्रमाणवाद, शब्दनित्यत्ववाद।

वैयाकरण - शब्दाद्वैतवाद, स्फोटवाद।

वेदान्त - ब्रह्मवाद, अविद्यावाद।

[साभार: गणिनी आर्यिकारत्न ज्ञानमती माताजी कृत **'न्यायसार'**, पृ. 69]

जैन दर्शन - जैन धर्म अनादि-निधन है। जैन धर्म में किसी को भी इसका प्रवर्तक नहीं माना गया है। इस दर्शन में वस्तु-तत्त्व की यथार्थ प्ररूपणा अनादि काल से ही केवलज्ञान ज्योति के प्रकट होने पर सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवन्तों के द्वारा की जाती है। वर्तमान में भी जो सिद्धांत, परमागम-भूत वस्तु-स्वरूप की व्याख्या उपलब्ध है वह वर्तमान शासन नायक अंतिम (चौबीसवें) तीर्थंकर महावीर स्वामी के मुख से निसृत है एवं आचार्य परम्परा से आज तक उपलब्ध है। जैन दर्शन में वस्तु-तत्त्व की प्ररूपणा पूर्ण सत्य प्रमाणित होती है, क्योंकि सर्वज्ञ ने जैसा वस्तु-स्वरूप को जाना था वैसा ही प्ररूपण किया है, अतः तर्क, अनुमान, प्रत्यक्षादि सभी प्रमाणों से यह एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रमाणित व सिद्ध होता है।

जैन दर्शन के मूल सिद्धांतों में अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्व, स्याद्वाद, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्म एवं अपरिग्रह आदि हैं।

जैन दर्शन में सात तत्त्व (जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष), नव-पदार्थ (सात तत्त्व + पुण्य एवं पाप), छह द्रव्य (जीव, पुद्‍गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) एवं पाँच अस्तिकाय (जीव, पुदगल, धर्म, अधर्म, आकाश) माने गए हैं।

जैन दर्शन में प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रमाण ग्रहण किए गए हैं। 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं' अर्थात् सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। वस्तु-स्वरूप की व्याख्या प्रमाण और नय के द्वारा की गई है।

जैन दर्शन में नय, सप्तभंगी की जो व्याख्या की गई है वह इस दर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं है और वह वस्तु के अनेकान्तात्मक होने की सिद्धि करने में अति विशिष्ट सिद्ध होती है। जैन दर्शन में संसार अर्थात तीन लोक अनादि से छः द्रव्यों के रूप में सुव्यवस्थित है, अतः जैन दर्शन में ईश्वर सृष्टि कर्तृत्व को स्थान नहीं है। जैन दर्शन में एक-ईश्वरवाद को भी स्थान नहीं है, अर्थात् अनादि काल से आज तक अनन्त जीव मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और आगे भी यह व्यवस्था चलती रहेगी। सम्पूर्ण कर्मों से मुक्त हुई आत्मा का नाम ही मोक्ष है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र की एकता रूप ही मोक्षमार्ग है। प्रत्येक जीव परमात्मा बनने की शक्ति से युक्त है एवं मोक्षमार्ग को प्राप्त कर निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण कर ईश्वरत्व शक्ति प्रकट कर सकता है।

जैन दर्शन का वैशिष्ट्य- इसमें कर्म सिद्धान्त की प्ररूपणा है जो इस लोक अर्थात् संसार की सम्पूर्ण व्यवस्था को प्रकाशित करने में सक्षम है। जैन दर्शन में तत्त्वों का जो सूक्ष्म विवेचन है वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। यह वह दर्शन है जिसमें जीवों के भावों का भी सम्पूर्ण रूप से प्रतिपादन उपलब्ध है।

जैन दर्शन में नय को दो मूल भेदों में विभक्त किया गया है- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से एक ही वस्तु सत्, नित्य, एक है, वहीं पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से वही वस्तु असत्, अनित्य, अनेक भी सिद्ध होती है।

अनेकान्तात्मक वस्तु में परस्पर विरुद्ध शक्ति को प्रकाशन करना ही अनेकान्त है। ['अनेकान्तात्मक वस्तुनि परस्पर विरुद्ध शक्ति द्वय प्रकाशनमनेकान्तः' (**'आत्मख्याति टीका'**)]

इस वैशिष्ट्य के कारण ही जिन शासन तर्क एवं न्याय की कसौटी पर अकाट्य एवं अद्वितीय सिद्ध होता है एवं इस कारण से ही यह 'स्याद्वाद शासन', 'अनेकान्त शासन', 'युक्त्यनुशासन' के रूप में सर्वमान्य है।

परिशिष्ट-५

'श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्यवर्य-प्रणीत युक्त्यनुशासन'
में पं. महेन्द्रकुमार (न्यायाचार्य) के द्वारा लिखित प्राक्कथन

युगप्रधान सर्वतोभद्र आचार्य समन्तभद्र स्याद्वाद-विद्या के सञ्जीवक और प्राण प्रतिष्ठापक थे। उन्होंने सर्वप्रथम भ. महावीर के तीर्थ को 'सर्वोदय' तीर्थ कहा। वे कहते हैं- हे भगवन्, आपका अनेकान्त तीर्थ ही 'सर्वोदय-तीर्थ', हो सकता है, क्योंकि इसमें मुख्य और गौण-भाव से वस्तुका अनेकधर्मात्मक स्वरूप सध जाता है। यदि एक दृष्टि दूसरी दृष्टि से निरपेक्ष हो जाती है तो वस्तु सर्वधर्म-रहित शून्य हो जायगी। और चूंकि वस्तु का विविध धर्ममय रूप इस अनेकान्त की दृष्टि से सिद्ध होता है अतः यही समस्त आपदाओं का नाश करनेवाला और स्वयं अन्तरहित सर्वोदयकारी तीर्थ बन सकता है-

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

किसी भी तीर्थ के सर्वोदयी होने के लिये आवश्यक है कि उसका आधार समता और अहिंसा हो, अहंकार और पक्षमोह नहीं। भगवान् महावीर का अनेकान्त-दर्शन उनकी जीवन्त अहिंसा का ही अमृतमय फल है। हिंसा और संघर्ष का मूल-कारण विचार-भेद होता है। जब अहिंसामूर्त्ति कुमार सिद्धार्थ प्रव्रजित हुए और उनने जगत् की विषमता और अनन्त दुःखों का मूल खोजने के लिये बारह वर्ष की सुदीर्घ साधना की और अपनी कठिन तपस्या के बाद केवलज्ञान प्राप्त किया तब उन्हें स्पष्ट भास हुआ कि यह मानवतनधारी अपने स्वरूप और अधिकार के अज्ञान के कारण स्वयं दुःखी हो रहा है और दूसरों के लिये दुःखमय परिस्थितियों का निर्माण जान या अजान में करता जा रहा है। श्रमण महाप्रभु ने अपने निर्मल केवलज्ञान से जाना कि इस विचित्र विश्व में अनन्त द्रव्य हैं। प्रत्येक जड़ या चेतन द्रव्य अपने में परिपूर्ण है और स्वतंत्र है। वह अनन्त धर्मात्मक है, अनेकान्तरूप है। शुद्ध द्रव्य एक दूसरे को प्रभावित नहीं करते। केवल पुद्गल द्रव्य ही ऐसे हैं जो अपनी शुद्ध या अशुद्ध हर अवस्था में किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्य से प्रभावित होते रहते हैं। एक द्रव्य का निसर्गतः दूसरे द्रव्य पर कोई अधिकार नहीं है। प्रत्येक द्रव्य का अधिकार है तो अपने गुण और अपनी पर्यायों पर। वह उन्हीं का वास्तविक स्वामी है। पर इस स्वरूप और अधिकार के अज्ञानी मोही प्राणी ने जड़ पदार्थ तो दूर रहे, चेतन द्रव्यों पर भी

अधिकार जमाने की दुर्वृत्ति और मूढ प्रवृत्ति की। इसने जड़ पदार्थों का संग्रह और परिग्रह तो किया ही, साथ ही उन चेतन द्रव्यों पर भी स्वामित्व स्थापन किया जिन प्रत्येक में मूलतः वैसे ही अन्नतज्ञान, दर्शन, सुख आदि गुणों की सत्ता है, जो उसी तरह सुख-दुःख का संवेदन और संचेतन करते हैं जिस प्रकार कि वह, और वह भी किया गया जाति-वर्ण और रंग के नाम पर।

श्रमण-प्रभु ने देखा कि यह विषमता तथा अधिकारों की छीना-झपटी की होड़ व्यवहार क्षेत्र में तो थी ही, पर उस धर्म-क्षेत्र में भी जा पहुँची है जिसकी शीतल छाया में प्राणिमात्र सुख, शान्ति और समता की सांस लेता था। मांसलोलुपी प्रेयार्थी व्यक्ति पशुओं की बलि धर्म के नाम पर दे रहे थे। उन प्रवृत्तिरक्त पर शमतुष्टिरिक्त यज्ञ जीवियों को भगवान् ने यही कहा कि- एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कोई अधिकार नहीं और अधिकार जमाने की अनधिकार चेष्टा ही अधर्म है, पाप है और मिथ्यात्व है। फिर धर्म के नाम पर यह चेष्टा तो घोर पातक है।

स्वामी समन्तभद्र ने भूतचैतन्यवादी चार्वाकों का खण्डन करते समय उन्हें 'आत्मशिश्नोदरपुष्टितुष्ट' (स्वार्थी, काम और उदर पोषण में मस्त) और 'निर्हीभय' (भय और लोकलाज से रहित) विशेषण दिया है। पर वस्तुतः देखा जाय तो यज्ञजीवी और धर्म हिंसी लोग इन विशेषणों के सर्वथा उपयुक्त हैं। भगवान् के सर्वोदय शासन में प्रत्येक प्राणी को धर्म के सब अवसर हैं, सभी द्वार उन्मुक्त हैं। मनुष्य बिना किसी जाति, पांति, वर्ण, रंग या कुल आदि के भेद के अपनी भावना के अनुसार धर्मसाधन कर सकता है।

श्रमण महाप्रभु ने अहिंसा चरम साधना के बाद यह स्पष्ट देखा कि जब तक अहिंसा का तत्त्वज्ञान दृढ़भूमि पर नहीं होगा तब तक बुद्धिविलासी व्यक्ति श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक इसकी उपासना नहीं कर सकते। खासकर उस वातावरण में जहाँ 'सत्, असत्, उभय अनुभय', 'नित्य, अनित्य, उभय, अनुभय' आदि चतुष्कोटियों की चरचा चौराहों पर होती रहती हो। विविध विचार के बुद्धिमान प्राणी प्रभु के संघ में उनकी अलौकिक वृत्ति से प्रभावित होकर दीक्षित होने लगे, पर उनकी वस्तुतत्त्व के बोध की जिज्ञासा बराबर बनी ही रही। उनकी साधना में यह जिज्ञासा पक्षमोह की आकुलता उत्पन्न करने के कारण महान् कंटक थी। इसकी शान्ति के बिना निराकुल और निर्विकल्प समता पाना कठिन था। खास कर उस समय जब भिक्षा के लिये जाते समय गली कूंचों में भी शास्त्रार्थ हो जाते थे। संघ में भी तत्त्वज्ञान की दृढ़ और स्पष्ट भूमिका के बिना मानस शान्ति पाना कठिन ही था। प्रभु ने अपने निरावरण ज्ञाननेत्रों से देखा कि इस विराट् विश्व का प्रत्येक चेतन और अचेतन अणु-परमाणु अनन्त धर्मों का वास्तविक आधार है। सांसारिक जीवों का ज्ञानलव उसके

एक-एक अंश को छूकर ही परिसमाप्त हो जाता है, पर यह अहंकारी उस ज्ञानलव को ही 'महान्' मान कर मद-मत्त हो जाता है और दूसरों के ज्ञान को तुच्छ मान बैठता है। प्रभु ने कहा- प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मों का अखण्ड पिंड है। छद्मस्थों का ज्ञान उसके पूर्ण रूप को नहीं जान सकता। उसमें सत्, असत्, उभय, अनुभय ये चार कोटियां ही नहीं, इनको मिलाजुला कर जितने प्रश्न हो सकते हों उन अनन्त सप्तभंगियों के विषयभूत अनन्त धर्म प्रत्येक वस्तु में लहरा रहे हैं। उन्होंने बुद्ध की तरह तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में अपने शिष्यों को अनुपयोगिता के कुहरे में नहीं डाला और न इस तरह उन्हें तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में मानसिक दैन्य का शिकार ही होने दिया। उन्होंने आत्मा लोक परलोक आदि की नित्यता अनित्यता आदि के निश्चित दृष्टिकोण समझाये। इस तरह मानस अहिंसा की परिपूर्णता के लिये विचारों का वस्तुस्थिति के आधार से यथार्थ सामञ्जस्य करने वाला अनेकान्त दर्शन का मौलिक उपदेश दिया गया। इसी अनेकान्त का निर्दुष्ट रूप से कथन करने वाली भाषाशैली 'स्याद्वाद' कहलाती है। स्याद्वाद का 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्म के सिवाय वस्तु में विद्यमान शेष धर्मों का प्रतिनिधित्व करता है। वह उन मूक धर्मों का सद्भाव तथा वस्तु में उनका बराबरी का अधिकार बताता है और श्रोता को यह सोचने को बाध्य करता है कि वह शब्द से उच्चरित धर्मरूप ही वस्तु न समझ बैठे। अतः मानस अहिंसा 'अनेकान्त दर्शन', वाणी की अहिंसा 'स्याद्वाद' तथा कायिक अहिंसा 'सम्यक् चारित्र' ये अहिंसा प्रासाद के मुख्य स्तम्भ हैं। युगावतार स्वामी समन्तभद्र ने अनेकान्त, स्याद्वाद तथा सम्यक्चारित्र के सारभूत मुद्दों का विवेचन इस 'युक्त्यनुशासन' में दृढ निष्ठा और अतुल वाग्मिता के साथ किया है, जो कि उन्हीं वीरप्रभु के स्तोत्र-रूप में लिखा गया है। वे जैनमत का अमृतकुम्भ हाथ में लेकर अटूट विश्वास से कहते हैं- भगवन्! दया, दम, त्याग और समाधि में जीवित रहने वाला तथा नय और प्रमाण की द्विविध शैली से वस्तु का यथार्थ निश्चय करने वाले तत्त्वज्ञान की दृढ भूमि पर प्रतिष्ठित आपका मत अद्वितीय है, प्रतिवादियोंके द्वारा अजेय है-

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै र्जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ।।६।।

युक्त्यनुशासन जैसे जटिल और सारगर्भ महान् ग्रन्थ का सन्दुरतम अनुवाद समन्तभद्र स्वामी के अनन्यनिष्ठ भक्त साहित्य-तपस्वी पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार ने जिस अकल्पनीय सरलता से प्रस्तुत किया है वह न्याय-विद्या के अभ्यासियो ंके लिये आलोक देगा। सामान्य-विशेष, युतसिद्धि-अयुतसिद्धि, क्षणभंगवाद सन्तान आदि पारिभाषिक दर्शन-

शब्दों का प्रामाणिकता से भावार्थ दिया है। आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार की यह एकान्त साहित्य-साधना आज के मोलतोल वाले युग को भी मँहगी नहीं मालूम होगी, जब वह थोड़ा सा भी अन्तर्मुख होकर इस तपस्वी की निष्ठा का अनुवाद की पंक्ति-पंक्ति पर दर्शन करेगा। वीर सेवामन्दिर की ठोस साहित्य-सेवाएँ आज सीमित साधन होने से विज्ञापित नहीं हो रही हैं पर वे ध्रुवताराएँ हैं जो कभी अस्त नहीं होते और देश और काल की परिधियाँ जिन्हें धूमिल नहीं कर सकतीं। जैन समाज ने इस ज्ञान-होता की परीक्षा ही परीक्षा ली। पर यह भी अधीर नहीं हुआ और आज भी वृद्धावस्था की अन्तिम डाल पर बैठा हुआ भी नवकोंपलों की लालिमा से खिल रहा है और इसे आशा है कि- 'कालो ह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी'। हम इस ज्ञानयोगी की साधना के आगे सश्रद्ध नतमस्तक हैं और नम्र निवेदन करते हैं कि इनने जो आबदार ज्ञानमुक्ता चुन रखे हैं उनकी माला बनाकर रख दें, जिससे समन्तभद्र सर्वोदयी परम्परा फिर युगभाषा का नया रूप लेकर निखर पड़े।

हिन्दू विश्वविद्यालय **महेन्द्रकुमार (न्यायाचार्य)**
काशी, ता० १-६-१९५१

परिशिष्ट–६

'श्रीमत्स्वामि–समन्तभद्राचार्यवर्य–प्रणीत युक्त्यनुशासन'
में पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' के द्वारा लिखित प्रस्तावना

ग्रन्थ–नाम

इस ग्रन्थ का सुप्रसिद्ध नाम 'युक्त्यनुशासन' है। यद्यपि ग्रन्थ के आदि तथा अन्त के पद्यों में इस नाम का कोई उल्लेख नहीं है – उनमें स्पष्टतया वीर–जिन के स्तोत्र की प्रतिज्ञा और उसी की परिसमाप्ति का उल्लेख है[1] और इससे ग्रन्थ का मूल अथवा प्रथम नाम 'वीरजिनस्तोत्र' जान पड़ता है – फिर भी ग्रन्थ की उपलब्ध प्रतियों तथा शास्त्र–भण्डारों की सूचियों में 'युक्त्यनुशासन' नाम से ही इसका प्रायः उल्लेख मिलता है। टीकाकार श्री विद्यानन्दाचार्य ने तो बहुत स्पष्ट शब्दों में टीका के मंगलपद्य, मध्यपद्य और अन्त्यपद्य में इसको समन्तभद्र का 'युक्त्यनुशासन' नाम का स्तोत्रग्रन्थ उद्घोषित किया है; जैसा कि उन पद्यों के निम्न वाक्यों से प्रकट है:–

"जीयात्समन्तभद्रस्य स्तोत्रं युक्त्यनुशासनम्" (१)

"स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः" (२)

"श्रीमद्वीरजिनेश्वराऽमलगुणस्तोत्रं परीक्षेक्षणैः
साक्षात्स्वामिसमन्तभद्रगुरुभिस्तत्त्वं समीक्ष्याऽखिलम्।
प्रोक्तं युक्त्यनुशासनं विजयिभिः स्याद्वादमार्गानुगैः" (४)

यहाँ मध्य और अन्त्य के पद्यों से यह भी मालूम होता है कि ग्रन्थ वीरजिन का स्तोत्र होते हुए भी 'युक्त्यनुशासन' नाम को लिये हुए है अर्थात् इसके दो नाम हैं– एक 'वीरजिनस्तोत्र' और दूसरा 'युक्त्यनुशासन'। समन्तभद्र के अन्य उपलब्ध ग्रन्थ भी दो–दो नामों को लिये हुए है; जैसा कि मैंने 'स्वयम्भूस्तोत्र' की प्रस्तावना में व्यक्त किया है। पर स्वयम्भूस्तोत्रादि अन्य चार ग्रन्थों में ग्रन्थ का पहला नाम प्रथम पद्य–द्वारा और दूसरा नाम

1. "स्तुतिगोचरत्वं निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं" (1); "नरागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ" (63); "इति... स्तुतः शक्त्या श्रेयः पदमधिगतस्त्वं जिन मया। महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये" (64)

अन्तिम पद्य-द्वारा सूचित किया गया है और यहाँ आदि-अन्त के दोनों ही पद्यों में एक ही नाम की सूचना की गई है, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या 'युक्त्यनुशासन', यह नाम बाद को श्रीविद्यानन्द या दूसरे किसी आचार्य के द्वारा दिया गया है अथवा ग्रन्थ के अन्य किसी पद्य से इसकी भी उपलब्धि होती है? श्रीविद्यानन्दाचार्य के द्वारा यह नाम दिया हुआ मालूम नहीं होता; क्योंकि वे टीका के आदि मंगल पद्य में 'युक्त्यनुशासन' का जयघोष करते हुए उसे स्पष्ट रूप में समन्तभद्र-कृत बतला रहे हैं और अन्तिम पद्य में यह साफ घोषणा कर रहे हैं कि स्वामी समन्तभद्र ने अखिल तत्त्व की समीक्षा करके श्रीवीरजिनेन्द्र के निर्मल गुणों के स्तोत्ररूप में यह 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ कहा है। ऐसी स्थिति में उनके द्वारा इस नामकरण की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। इस के सिवाय शकसंवत् 705 (वि. सं. 840) में हरिवंशपुराण को बनाकर समाप्त करने वाले श्रीजिनसेनाचार्य ने 'जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्, वचः समन्तभद्रस्य' इन पदों के द्वारा बहुत स्पष्ट शब्दों में समन्तभद्र को 'जीवसिद्धि' ग्रन्थ का विधाता और 'युक्त्यनुशासन' का कर्ता बतलाया है। इससे यह भी साफ जाना जाता है कि 'युक्त्यनुशासन' नाम श्रीविद्यानन्द अथवा श्रीजिनसेन के द्वारा बाद को दिया हुआ नाम नहीं है, बल्कि ग्रन्थकार द्वारा स्वयं का ही विनियोजित नाम है।

अब देखना यह है कि क्या ग्रन्थ के किसी दूसरे पद्य से इस नाम की कोई सूचना मिलती है? सूचना जरूर मिलती है। स्वामीजी ने स्वयं ग्रन्थ की 48वीं कारिका में 'युक्त्यनुशासन' का निम्न प्रकार से उल्लेख किया है-

"दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।"

इसमें बतलाया है कि 'प्रत्यक्ष और आगम से अविरोधरूप जो अर्थ का अर्थ से प्ररूपण है उसे 'युक्त्यनुशासन' कहते हैं और वही (हे वीर भगवन्!) आपको अभिमत है- अभीष्ट है।' ग्रन्थ का सारा अर्थप्ररूपण युक्त्युनशासन के इसी लक्षण से लक्षित है, इसी से उसके सारे शरीर का निर्माण हुआ है और इसलिये 'युक्त्यनुशासन' यह नाम ग्रन्थ की प्रकृति के अनुरूप उसका प्रमुख नाम है। चुनाँचे ग्रन्थकार महोदय, 63वीं कारिका में ग्रन्थ के निर्माण का उद्देश्य व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- 'हे वीर भगवन्! यह स्तोत्र आपके प्रति रागभाव को अथवा दूसरों के प्रति द्वेषभाव को लेकर नहीं रचा गया है, बल्कि जो लोग न्याय-अन्याय को पहचानना चाहते हैं और किसी प्रकृतविषय के गुण-दोषों को जानने की जिनकी इच्छा है उनके लिये यह हितान्वेषण के उपायस्वरूप आप की गुण-कथा के साथ कहा गया है।' इससे साफ जाना जाता है कि ग्रन्थ का प्रधान लक्ष्य भूले-भटके जीवों को

न्याय-अन्याय, गुण-दोष और हित-अहित का विवेक कराकर उन्हें वीरजिन-प्रदर्शित सन्मार्ग पर लगाना है और वह युक्तियों के अनुशासन द्वारा ही साध्य होता है, अतः ग्रन्थ का मूलतः प्रधान नाम 'युक्त्यनुशासन' ठीक जान पड़ता है। यही वजह है कि वह इसी नाम से अधिक प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ है। 'वीरजिनस्तोत्र' यह उसका दूसरा नाम है, जो स्तुतिपात्र की दृष्टि से है, जिसका और जिसके शासन का महत्त्व इस ग्रन्थ में ख्यापित किया गया है। ग्रन्थ के मध्य में प्रयुक्त हुए किसी पद पर से भी ग्रन्थ का नाम रखने की प्रथा है, जिसका एक उदाहरण धनञ्जय कवि का 'विषापहार' स्तोत्र है, जो कि न तो 'विषापहार' शब्द से प्रारम्भ होता है और न आदि-अन्त के पद्यों में ही उसके 'विषापहार' नाम की कोई सूचना की गई है, फिर भी मध्य में प्रयुक्त हुए 'विषापहारं मणिमौषधानि' इत्यादि वाक्य पर से वह 'विषापहार' नाम को धारण करता है। उसी तरह यह स्तोत्र भी 'युक्त्यनुशासन' नाम को धारण करता हुआ जान पड़ता है।

इस तरह ग्रन्थ के दोनों ही नाम युक्तियुक्त हैं। और वे ग्रन्थकार द्वारा ही प्रयुक्त हुए सिद्ध होते हैं। जिसे जैसी रुचि हो उसके अनुसार वह इन दोनों नामों में से किसी का भी उपयोग कर सकता है।

ग्रन्थ का संक्षिप्त परिचय और महत्त्व-

यह ग्रन्थ उन आप्तों अथवा 'सर्वज्ञ' कहे जाने वालों की परीक्षा के बाद रचा गया है, जिनके आगम किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध हैं और जिनमें बुद्ध-कपिलादि के साथ वीरजिनेन्द्र भी शामिल हैं। परीक्षा 'युक्ति-शास्त्राऽविरोधि-वाक्त्व' हेतु से की गई है अर्थात् जिनके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोध रूप पाये गये उन्हें ही आप्तरूप में स्वीकार किया गया है- शेष का आप्त होना बाधित ठहराया गया है। ग्रन्थकारमहोदय स्वामी समन्तभद्र की इस परीक्षा में, जिसे उन्होंने अपने 'आप्तमीमांसा' (देवागम) ग्रन्थ में निबद्ध किया है, स्याद्वादनायक श्रीवीरजिनेन्द्र, जो अनेकान्तवादि-आप्तों का प्रतिनिधित्व करते हैं, पूर्णरूप से समुत्तीर्ण रहे हैं और इसलिये स्वामीजी ने उन्हें निर्दोष आप्त (सर्वज्ञ) घोषित करते हुए और उनके अभिमत अनेकान्तशासन को प्रमाणाऽबाधित बतलाते हुए लिखा है कि आपके शासनाऽमृत से बाह्य जो सर्वथा एकान्तवादी हैं वे आप्त नहीं आप्ताभिमान से दग्ध हैं; क्योंकि उनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट तत्त्व प्रत्यक्ष-प्रमाण से बाधित है-

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥ – आप्तमीमांसा

इस तरह वीरजिनेन्द्र के गले में आप्त-विषयक जयमाल डालकर और इन दोनों कारिकाओं में वर्णित अपने कथन का स्पष्टीकरण करने के अनन्तर आचार्य स्वामी समन्तभद्र इस स्तोत्र द्वारा वीरजिनेन्द्र का स्तवन करने बैठे हैं, जिसकी सूचना इस ग्रन्थ की प्रथम कारिका में प्रयुक्त हुए 'अद्य' शब्द का अर्थ **'अद्याऽस्मिन् काले परीक्षावसानसमये'** दिया है। साथ ही, कारिका के निम्न प्रस्तावना-वाक्य द्वारा यह भी सूचित किया है कि प्रस्तुत ग्रन्थ आप्तमीमांसा के बाद रचा गया है-

"श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिराप्तमीमांसायामन्ययोगव्यवच्छेदाद् व्यवस्थापितेन भगवता श्रीमतार्हतान्त्यतीर्थङ्करपरमदेवेन मां परीक्ष्य किं चिकीर्षवो भवन्तः? इति ते पृष्ठा इव प्राहुः।"

स्वामी समन्तभद्र एक बहुत बड़े परीक्षा-प्रधानी आचार्य थे, वे यों ही किसी के आगे मस्तक टेकने वाले अथवा किसी की स्तुति में प्रवृत्त होने वाले नहीं थे। इसी से वीरजिनेन्द्र की महानता-विषयक जब ये बातें उनके सामने आईं कि उनके पास देव आते हैं, आकाश में बिना किसी विमानादि की सहायता के उनका गमन होता है और चंवर-छत्रादि अष्ट प्रातिहार्यों के रूप में तथा समवसरणादि के रूप में अन्य विभूतियों का भी उनके निमित्त प्रादुर्भाव होता है, तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि ये बातें तो मायावियों में - इन्द्रजालियों में - भी पाई जाती हैं, इनके कारण आप हमारे महान्-पूज्य अथवा आप्त पुरुष नहीं हैं[1]। और जब शरीरादि के अन्तर्बाह्य महान् उद्य की बात बतलाकर महानता जतलाई गई तो उसे भी अस्वीकार करते हुए उन्होंने कह दिया कि शरीरादि का यह महान उदय रागादि के वशीभूत देवताओं में भी पाया जाता है। अतः यह हेतु भी व्यभिचारी है इससे महानता (आप्तता) सिद्ध नहीं होती[2]। इसी तरह तीर्थङ्कर होने से महानता की बात जब सामने लाई गई तो आपने साफ कह दिया कि 'तीर्थङ्कर' तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसार से पार उतरने अथवा निवृति प्राप्त करने के उपाय रूप आगमतीर्थ के प्रवर्तक माने जाते हैं

1-2. देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥1॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥2॥ – **आप्तमीमांसा**

तब वे सब भी आप्त-सर्वज्ञ ठहरते हैं, और यह बात बनती नहीं, क्योंकि तीर्थङ्करों के आगमों में परस्पर विरोध पाया जाता है। अतः उनमें कोई एक ही महान् हो सकता है, जिसका ज्ञापक तीर्थङ्करत्व हेतु नहीं, कोई दूसरा ही हेतु होना चाहिये[1]।

ऐसी हालत में पाठकजन यह जानने के लिये जरूर उत्सुक होंगे कि स्वामीजी ने इस स्तोत्र में वीरजिन की महानता का किस रूप में संद्योतन किया है। वीरजिन की महानता का संद्योतन जिस रूप में किया गया है उसका पूर्ण परिचय तो पूरे ग्रन्थ को बहुत दत्तावधानता के साथ अनेक बार पढ़ने पर ही ज्ञात हो सकेगा, यहाँ पर संक्षेप में कुछ थोड़ा सा ही परिचय कराया जाता है और उसके लिये ग्रन्थ की निम्न दो कारिकाएँ खास तौर से उल्लेखनीय है:-

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां
तुलाव्यतीतां जिन! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता
महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं
नयप्रमाणप्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादै-
र्जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

इनमें से पहली कारिका में श्रीवीर की महानता का और दूसरी में उनके शासन की महानता का उल्लेख है। श्रीवीर की महानता को इस रूप में प्रदर्शित किया गया है कि 'वे अतुलित शान्ति के साथ शुद्धि और शक्ति की पराकष्ठा को प्राप्त हुए हैं - उन्होंने मोहनीय-कर्म का अभाव कर अनुपम सुख-शान्ति की, ज्ञानावरण-दर्शनावरण कर्मों का नाशकर अनन्त ज्ञान-दर्शन-रूप शुद्धि के उदय की चरम-सीमा को प्राप्त किया है - और साथ ही ब्रह्मपथ के - अहिंसात्मक आत्मविकासपद्धति, अथवा मोक्षमार्ग के वे नेता बने हैं - उन्होंने अपने आदर्श एवं उपदेशादि द्वारा दूसरों को उस सन्मार्ग पर लगाया है जो शुद्धि, शक्ति तथा शान्ति के परमोदयरूप में आत्मविकास का परम सहायक है।' और उनके

1. तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः ।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥3॥ - **आप्तमीमांसा**

शासन की महानता के विषय में बतलाया है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (संयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समाधि (प्रशस्तध्यान) की निष्ठा-तत्परता को लिये हुए है, नयों तथा प्रमाणों के द्वारा वस्तुतत्त्व को बिल्कुल स्पष्ट-सुनिश्चित करने वाला है और (अनेकान्तवाद से भिन्न) दूसरे सभी प्रवादों के द्वारा अबाध्य है - कोई भी उसके विषय को खण्डित अथवा दूषित करने में समर्थ नहीं है। यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिये यह अद्वितीय है।'

अगली कारिकाओं में सूत्ररूप से वर्णित इस वीरशासन के महत्त्व को और उसके द्वारा वीरजिनेन्द्र की महानता को स्पष्ट करके बतलाया गया है- खास तौर से यह प्रदर्शित किया गया है कि वीरजिन-द्वारा इस शासन में वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाण के द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनों में निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकार से प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्व को सिद्ध करने में असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ पाठकों के लिये बड़ा ही रोचक है और वीरजिनेन्द्र की कीर्ति को दिग्दिगन्त-व्यापिनी बनाने वाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनों और उनके अवान्तर कितने ही वादों का सूत्र अथवा संकेतादिक के रूप में बहुत कुछ निर्देश और विवेक आ गया है। यह विषय 39वीं कारिका तक चलता रहा है। श्री विद्यानन्दाचार्य ने इस कारिका की टीका के अन्त में वहाँ तक के वर्णित विषय की संक्षेप में सूचना करते हुए लिखा है-

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य निःशेषतः
सम्प्राप्तस्य विशुद्धिशक्तिपदवीं काष्ठां परमाश्रिताम् ।
निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं
तद्बाह्यं वितथं मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥

अर्थात्- यहाँ तक के इस युक्त्यनुशासन स्तोत्र में शुद्धि और शक्ति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुए वीरजिनेन्द्र के अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्त के आग्रह को लिये हुए मिथ्यामतों का समूह है, उस सब का संक्षेप से निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियों को भले प्रकार समझ लेनी चाहिये।

इसके आगे, ग्रन्थ के उत्तरार्ध में, वीर शासन-वर्णित तत्त्वज्ञान के मर्म की कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातों को स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्तभद्र से पूर्व के ग्रन्थों में प्रायः नहीं पाई जातीं, जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्द के प्रयोग-अप्रयोग के रहस्य की बातें भी शामिल हैं और जिन सब से वीर के तत्त्वज्ञान को

समझने तथा परखने की निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। वीर के इस अनेकान्तात्मक शासन (प्रवचन) को ही ग्रन्थ में **'सर्वोदयतीर्थ'** बतलाया है - संसार समुद्र से पार उतरने के लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी पार उतर जाते हैं और जो सबों के उदय-उत्कर्ष में अथवा आत्मा के पूर्ण विकास में सहायक है - और यह भी बतलाया है कि वह सर्वान्तवान् है और सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध और एकत्व-अनेकत्वादि अशेष धर्मों को अपनाये हुए है, मुख्य-गौण की व्यवस्था से सुव्यवस्थित है और सर्व दुःखों का अन्त करनेवाला तथा स्वयं निरन्त है - अविनाशी तथा अखण्डनीय है। साथ ही, यह भी घोषित किया है कि जो शासन धर्मों में पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता - उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है - वह सर्वधर्मों से शून्य होता है- उसमें किसी भी धर्म का अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है; ऐसी हालत में सर्वथा एकान्तशासन 'सर्वोदयतीर्थ' पद के योग्य हो ही नहीं सकता। जैसा कि ग्रन्थ के वाक्य से प्रकट है-

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

वीर के इस शासन में बहुत बड़ी खूबी यह है कि 'इस शासन से यथेष्ट अथवा भरपेट द्वेष रखने वाला मनुष्य भी, यदि समदृष्टि हुआ उपपत्ति चक्षु से - मात्सर्य के त्यागपूर्वक समाधान की दृष्टि से - वीर-शासन का अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानश्रृंग खण्डित हो जाता है - सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामत का आग्रह छूट जाता है - और वह अभद्र अथवा मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओर से भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है।' ऐसी इस ग्रन्थ के निम्न वाक्य में स्वामी समन्तभद्र ने जोरों के साथ घोषणा की है-

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः
समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानश्रृङ्गो
भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

इस घोषणा में सत्य का कितना अधिक साक्षात्कार और आत्म-विश्वास संनिहित है उसे बतलाने की जरूरत नहीं, जरूरत है यह कहने और बतलाने की कि एक समर्थ आचार्य की ऐसी प्रबल घोषणा के होते हुए और वीरशासन को 'सर्वोदयतीर्थ' का पद प्राप्त होते हुए भी आज वे लोग क्या कर रहे हैं जो तीर्थ के उपासक कहलाते हैं, पण्डे-पुजारी बने हुए हैं और जिनके हाथों यह तीर्थ पड़ा हुआ है। क्या वे इस तीर्थ के सच्चे उपासक हैं? इसकी गुण-गरिमा एवं शक्ति से भले प्रकार परिचित हैं? और लोकहित की दृष्टि से इसे प्रचार में लाना चाहते हैं? उत्तर में यही कहना होगा कि 'नहीं'। यदि ऐसा न होता तो आज इसके प्रचार और प्रसार की दिशा में कोई खास प्रयत्न होता हुआ देखने में आता, जो नहीं देखा जा रहा है। खेद है कि ऐसे महान् प्रभावक ग्रन्थों को हिन्दी आदि के विशिष्ट अनुवादादि के साथ प्रचार में लाने का कोई खास प्रयत्न भी आजतक नहीं हो सका है, जो वीर-शासन का सिक्का लोकहृदयों पर अङ्कित कर उन्हें सन्मार्ग की ओर लगाने वाले हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ कितना प्रभावशाली और महिमामय है, इसका विशेष अनुभव तो विज्ञपाठक इसके गहरे अध्ययन से ही कर सकेंगे। यहाँ पर सिर्फ इतना ही बतला देना उचित जान पड़ता है कि श्री विद्यानन्द आचार्य ने युक्त्यनुशासन का जयघोष करते हुए उसे 'प्रमाण-नय निर्णीत वस्तु-तत्त्वमबाधितं' (1) विशेषण के द्वारा प्रमाण-नय के आधार पर वस्तुतत्त्व का अबाधित रूप से निर्णायक बतलाया है। साथ ही टीका के अन्तिम पद्य में यह भी बतलाया है कि 'स्वामी समन्तभद्र ने अखिल तत्त्वसमूह की साक्षात् समीक्षा कर इसकी रचना की है।' और श्रीजिनसेनाचार्य ने, अपने हरिवंशपुराण में, **'कृतयुक्त्यनुशासनं'** पद के साथ **'वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते'** इस वाक्य की योजना कर यह घोषित किया है कि 'समन्तभद्र का युक्त्यशासन ग्रन्थ वीर भगवान् के वचन (आगम) के समान प्रकाशमान् एवं प्रभावादिक से युक्त है।' और इससे साफ जाना जाता है कि यह ग्रन्थ बहुत प्रामाणिक है, आगम की कोटि में स्थित है और इसका निर्माण बीजपदों अथवा गम्भीरार्थक और वह्वर्थक सूत्रों के द्वारा हुआ है। सचमुच इस ग्रन्थ की कारिकाएँ प्रायः अनेक गद्यसूत्रों से निर्मित हुई जान पड़ती हैं, जो बहुत ही गाम्भीर्य तथा अर्थगौरव को लिये हुए हैं। उदाहरण के लिये 7वीं कारिका को लीजिये, इसमें निम्न चार सूत्रों का समावेश है-

१ अभेद-भेदात्मकमर्थतत्त्वम्।

२ स्वतन्त्राऽन्यतरत्खपुष्पम्।

३ अवृतिमत्वात्समवायवृत्तेः (संसर्गहानिः)।

४ संसर्गहानेः सकलाऽर्थ-हानिः।

इसी तरह दूसरी कारिकाओं का भी हाल है। मैं चाहता था कि कारिकाओं पर से फलित होने वाले गद्य सूत्रों की एक सूची अलग से दी जाती; परन्तु उसके तय्यार करने के योग्य मुझे स्वयं अवकाश नहीं मिल सका और दूसरे एक विद्वान से जो उसके लिये निवेदन् किया गया तो उनसे उसका कोई उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। और इसलिये वह सूची फिर किसी दूसरे संस्करण के अवसर पर ही दी जा सकेगी।

आशा है ग्रन्थ के इस संक्षिप्त परिचय और विषय-सूची पर से पाठक ग्रन्थ के गौरव और उसकी उपादेयता को समझकर सविशेषरूप से उसके अध्ययन और मनन में प्रवृत्त होंगे।

देहली **जुगलकिशोर मुख्तार**

ता० २४-६-१९५१

परिशिष्ट–७

'युक्त्यनुशासन' का मूल पाठ

कीर्त्या महत्या भुवि वर्द्धमानं त्वां वर्द्धमानं स्तुतिगोचरत्वम् ।
निनीषवः स्मो वयमद्य वीरं विशीर्णदोषाऽऽशयपाशबन्धम् ॥१॥

याथात्म्यमुल्लंघ्य गुणोदयाऽऽख्या लोके स्तुतिर्भूरिगुणोदधेस्ते ।
अणिष्ठमप्यंशमशक्नुवन्तो वक्तुं जिन! त्वां किमिव स्तुयाम ॥२॥

तथाऽपि वैयात्यमुपेत्य भक्त्या स्तोताऽस्मि ते शक्त्यनुरूपवाक्यः ।
इष्टे प्रमेयेऽपि यथास्वशक्ति किन्नोत्सहन्ते पुरुषाः क्रियाभिः ॥३॥

त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिन! शान्तिरूपाम् ।
अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत् प्रतिवक्तुमीशाः ॥४॥

कालः कलिर्वा कलुषाऽऽशयो वा श्रोतुः प्रवक्तुर्वचनाऽनयो[1] वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मीप्रभुत्वशक्तेरपवादहेतुः ॥५॥

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

अभेदभेदात्मकमर्थतत्त्वं तव स्वतन्त्राऽन्यतरत् खपुष्पम् ।
अवृत्तिमत्त्वात्समवायवृत्तेः संसर्गहानेः सकलार्थहानिः ॥७॥

---

1. पाठान्तर – **प्रवक्तुर्वचनाशयो**

भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः ।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः समन्तदोषं मतमन्यदीयम् ॥८॥

अहेतुकत्वं-प्रथितः स्वभावस्तस्मिन् क्रियाकारकविभ्रमः स्यात् ।
आबालसिद्धेर्विविधार्थसिद्धिर्वादान्तरं किं तदसूयतां ते ॥९॥

येषामवक्तव्यमिहाऽऽत्मतत्त्वं देहादनन्यत्वपृथक्त्वक्लृप्तेः ।
तेषां ज्ञतत्त्वेऽनवधार्यतत्त्वे का बन्धमोक्षस्थितिरप्रमेये ॥१०॥

हेतुर्न दृष्टोऽत्र न चाऽप्यदृष्टो योऽयं प्रवादः क्षणिकाऽऽत्मवादः ।
'न ध्वस्तमन्यत्र भवे द्वितीये' सन्तानभिन्ने न हि वासनाऽस्ति ॥११॥

तथा न तत्कारणकार्यभावो निरन्वयाः केन समानरूपाः ।
असत् खपुष्पं न हि हेत्वपेक्षं दृष्टं न सिद्ध्यत्युभयोरसिद्धम् ॥१२॥

नैवाऽस्ति हेतुः क्षणिकात्मवादे न सन्नसन्वा विभवादकस्मात् ।
नाशोदयैकक्षणता च दृष्टा सन्तानभिन्नक्षणयोरभावात् ॥१३॥

कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोगौ स्यातामसञ्चेतितकर्म च स्यात् ।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥१४॥

न बन्धमोक्षौ क्षणिकैकसंस्थौ न संवृतिः साऽपि मृषास्वभावा ।
मुख्यादृते गौणविधिर्न दृष्टो विभ्रान्तदृष्टिस्तव दृष्टितोऽन्या ॥१५॥

प्रतिक्षणं भङ्गिषु तत्पृथक्त्वान्न मातृघाती स्वपतिः स्वजाया ।
दत्तग्रहो नाऽधिगतस्मृतिर्न न क्त्वार्थसत्यं न कुलं न जातिः ॥१६॥

न शास्तृशिष्यादिविधिव्यवस्था विकल्पबुद्धिर्वितथाऽखिला चेत् ।
अतत्त्वतत्त्वादिविकल्पमोहे निमज्जतां वीतविकल्पधीः का? ॥१७॥

अनर्थिका साधनसाध्यधीश्चेद्विज्ञानमात्रस्य न हेतुसिद्धिः ।
अथाऽर्थवत्वं व्यभिचारदोषो न योगिगम्यं परवादिसिद्धम् ॥१८॥

तत्त्वं विशुद्धं सकलैर्विकल्पैर्विश्वाऽभिलापाऽऽस्पदतामतीतम् ।
न स्वस्य वेद्यं न च तन्निगद्यं सुषुप्त्यवस्थं भवदुक्तिबाह्यम् ॥१९॥

मूकात्मसंवेद्यवदात्मवेद्यं तन्म्लिष्टभाषाप्रतिमप्रलापम् ।
अनङ्गसंज्ञं तदवेद्यमन्यैः स्यात् त्वद्द्विषां वाच्यमवाच्यतत्त्वम् ॥२०॥

अशासदञ्जांसि वचांसि शास्ता शिष्याश्च शिष्टा वचनैर्न ते तैः ।
अहो! इदं दुर्गतमं तमोऽन्यत् त्वया विना श्रायसमार्य! किं तत् ॥२१॥

प्रत्यक्षबुद्धिः क्रमते न यत्र तल्लिङ्गगम्यं न तदर्थलिङ्गम् ।
वाचो न वा तद्विषयेण योगः का तद्गतिः? कष्टमश्रृण्वतां ते ॥२२॥

रागाद्यविद्याऽनलदीपनं च विमोक्षविद्याऽमृतशासनं च ।
न भिद्यते संवृतिवादिवाक्यं भवत्प्रतीपं परमार्थशून्यम् ॥२३॥

विद्याप्रसूत्यै किल शील्यमाना भवत्यविद्या गुरुणोपदिष्टा ।
अहो! त्वदीयोक्त्यनभिज्ञमोहो यज्जन्मने यत्तदजन्मने तत् ॥२४॥

अभावमात्रं परमार्थवृत्तेः सा संवृतिः सर्वविशेषशून्या ।
तस्या विशेषौ किल बन्धमोक्षौ हेत्वात्मनेति त्वदनाथवाक्यम् ॥२५॥

व्यतीतसामान्यविशेषभावाद् विश्वाऽभिलापाऽर्थविकल्पशून्यम् ।
खपुष्पवत्स्यादसदेव तत्त्वं प्रबुद्धतत्त्वाद्भवतः परेषाम् ॥२६॥

अतत्स्वभावेऽप्यनयोरुपायाद् गतिर्भवेत्तौ वचनीयगम्यौ ।
सम्बन्धिनौ चेन्न विरोधि दृष्टं वाच्यं यथार्थं न च दूषणं तत् ॥२७॥

उपेयतत्त्वाऽनभिलाप्यतावदुपायतत्त्वाऽनभिलाप्यता स्यात् ।
अशेषतत्त्वाऽनभिलाप्यतायां द्विषां भवद्युक्त्यभिलाप्यतायाः ॥२८॥

अवाच्यमित्यत्र च वाच्यभावादवाच्यमेवेत्ययथाप्रतिज्ञम् ।
स्वरूपतश्चेत्पररूपवाचि स्वरूपवाचीति वचो विरुद्धम् ॥२९॥

सत्याऽनृतं वाऽप्यनृताऽनृतं वाऽप्यस्तीह किं वस्त्वतिशायनेन?
युक्तं प्रतिद्वन्द्व्यनुबन्धिमिश्रं न वस्तु तादृक् त्वदृते जिनेदृक् ॥३०॥

सहक्रमाद्वा विषयाऽल्पभूरिभेदेऽनृतं भेदि न चाऽऽत्मभेदात् ।
आत्मान्तरं स्याद्भिदुरं समं च स्याच्चाऽनृतात्माऽनभिलाप्यता च ॥३१॥

न सच्च नाऽसच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यम् ।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि नैतत् त्वदृषेः परेषाम् ॥३२॥

प्रत्यक्ष निर्देशवदप्यसिद्धमकल्पकं ज्ञापयितुं ह्यशक्यम् ।
विना च सिद्धेर्न च लक्षणार्थो न तावकद्वेषिणि वीर! सत्यम् ॥३३॥

कालान्तरस्थे क्षणिके ध्रुवे वाऽपृथक् पृथक्त्वाऽवचनीयतायाम् ।
विकारहाने र्न च कर्तृकार्ये वृथा श्रमोऽयं जिन! विद्विषां ते ॥३४॥

मद्याङ्गवद्भूतसमागमे ज्ञः शक्त्यन्तरव्यक्तिरदैवसृष्टिः ।
इत्यात्मशिश्नोदरपुष्टितुष्टैर्निर्ह्रीभयैर्हा! मृदवः प्रलब्धाः ॥३५॥

दृष्टेऽविशिष्टे जननादिहेतौ विशिष्टता का प्रतिसत्त्वमेषाम्?
स्वभावतः किं न परस्य सिद्धिरतावकानामपि हा! प्रपातः? ॥३६॥

स्वच्छन्दवृत्तेर्जगतः स्वभावादुच्चैरनाचारपथेष्वदोषम् ।
निर्घुष्य दीक्षासममुक्तिमानास्त्वद्दृष्टिबाह्या बत! विभ्रमन्ति ॥३७॥

प्रवृत्तिरक्तैः शमतुष्टिरिक्तैरुपेत्य हिंसाऽभ्युदयाङ्गनिष्ठा ।
प्रवृत्तितः शान्तिरपि प्ररूढं तमः परेषां तव सुप्रभातम् ।३८॥

शीर्षोपहारादिभिरात्मदुःखैर्देवान् किलाऽऽराध्य सुखाभिगृद्धाः ।
सिद्ध्यन्ति दोषाऽपचयाऽनपेक्षा युक्तं च तेषां त्वमृषिर्न येषाम् ॥३९॥

सामान्यनिष्ठा विविधा विशेषाः पदं विशेषान्तरपक्षपाति ।
अन्तर्विशेषान्तर्वृत्तितोऽन्यत् समानभावं नयते विशेषम् ॥४०॥

यदेवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
पर्यायसामान्यविशेषसर्वं पदार्थहानिश्च विरोधिवत्स्यात् ॥४१॥

अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं व्यावृत्यभावान्नियमद्वयेऽपि ।
पर्यायभावेऽन्यतरप्रयोगस्तत्सर्वमन्यच्युतमात्महीनम् ॥४२॥

विरोधि चाऽभेद्यविशेषभावात्-तद्द्योतनः स्याद्गुणतो निपातः ।
विपाद्यसन्धिश्च तथाऽङ्गभावादवाच्यता श्रायसलोपहेतुः ॥४३॥

तथा प्रतिज्ञाऽऽशयतोऽप्रयोगः सामर्थ्यतो वा प्रतिषेधयुक्तिः ।
इति त्वदीया जिननाग! दृष्टिः पराऽप्रधृष्या परधर्षिणी च ।।४४।।

विधिर्निषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिरेकशस्त्रिर्द्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ।।४५।।

स्यादित्यपि स्याद्गुणमुख्यकल्पैकान्तो यथोपाधिविशेषवीक्ष्यः ।
तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपं द्विधा भवार्थव्यवहारवत्त्वात् ।।४६।।

न द्रव्यपर्यायपृथग्व्यवस्था द्वैयात्म्यमेकाऽर्पणया विरुद्धम् ।
धर्मी च धर्मश्च मिथस्त्रिधेमौ न सर्वथा तेऽभिमतौ विरुद्धौ ।।४७।।

दृष्टाऽऽगमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते ।
प्रतिक्षणं स्थित्युदयव्ययात्मतत्त्वव्यवस्थं सदिहाऽर्थरूपम् ।।४८।।

नानात्मतामप्रजहत्तदेकमेकात्मतामप्रजहच्च नाना ।
अङ्गाङ्गिभावात्तव वस्तु तद्यत् क्रमेण वाग्वाच्यमनन्तरूपम् ।।४९।।

मिथोऽनपेक्षाः पुरुषार्थहेतुर्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः ।
परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतुर्दृष्टा नयास्तद्वदसिक्रियायाम् ।।५०।।

एकान्तधर्माऽभिनिवेशमूला रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।
एकान्तहानाच्च स यत्तदेव स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ।।५१।।

प्रमुच्यते च प्रतिपक्षदूषी जिन! त्वदीयैः पटुसिंहनादैः ।
एकस्य नानात्मतया ज्ञवृत्तेस्तौ बन्धमोक्षौ स्वमतादबाह्यौ ।।५२।।

आत्मान्तराऽभावसमानता न वागास्पदं स्वाऽऽश्रयभेदहीना ।
भावस्य सामान्यविशेषवत्त्वादैक्ये तयोरन्यतरन्निरात्म ॥५३॥

अमेयमश्लिष्टममेयमेव भेदेऽपि तद्वृत्त्यपवृत्तिभावात् ।
वृत्तिश्च कृत्स्नांशविकल्पतो न मानं च नाऽनन्तसमाश्रयस्य ॥५४॥

नाना सदेकात्मसमाश्रयं चेदन्यत्वमद्विष्ठमनात्मनोः क्व ।
विकल्पशून्यत्वमवस्तुनश्चेत् तस्मिन्नमेये क्व खलु प्रमाणम् ॥५५॥

व्यावृत्तिहीनाऽन्वयतो न सिद्ध्येद् विपर्ययेऽप्यद्वितयेऽपि साध्यम् ।
अतद्व्युदासाऽभिनिवेशवादः पराऽभ्युपेताऽर्थविरोधवादः ॥५६॥

अनात्मनाऽनात्मगतेरयुक्तिर्वस्तुन्ययुक्तेर्यदि पक्षसिद्धिः ।
अवस्त्वयुक्तेः प्रतिपक्षसिद्धिः न च स्वयं साधनरिक्तसिद्धिः ॥५७॥

निशायितस्तैः परशुः परघ्नः स्वमूर्ध्नि निर्भेदभयाऽनभिज्ञैः ।
वैतण्डिकैर्यैः कुसृतिः प्रणीता मुने! भवच्छासनदृक्प्रमूढैः ॥५८॥

भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मो भावान्तरं भाववदर्हतस्ते ।
प्रमीयते च व्यपदिश्यते च वस्तुव्यवस्थाऽङ्गममेयमन्यत् ॥५९॥

विशेषसामान्यविषक्तभेदविधिव्यवच्छेदविधायि वाक्यम् ।
अभेदबुद्धेरविशिष्टता स्याद् व्यावृत्तिबुद्धेश्च विशिष्टता ते ॥६०॥

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।
सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्ष्यतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानश्रृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥६२॥

न रागान्नः स्तोत्रं भवति भवपाशच्छिदि मुनौ
न चाऽन्येषु द्वेषादपगुणकथाऽभ्यासखलता ।
किमु न्यायाऽन्यायप्रकृतगुणदोषज्ञमनसां
हिताऽन्वेषोपायस्तव गुणकथासङ्गगदितः ॥६३॥

इति स्तुत्यः स्तुत्यैस्त्रिदशमुनिमुख्यैः प्रणिहितैः
स्तुतः शक्त्या श्रेयः पदमधिगतस्त्वं जिन! मया ।
महावीरो वीरो दुरितपरसेनाभिविजये
विधेया मे भक्तिं पथि भवत एवाऽप्रतिनिधौ ॥६४॥

परिशिष्ट-८

'युक्त्यनुशासन' की कारिकाओं का अकारादि क्रम

युक्त्यनुशासन

Sacred Jaina Texts from Vikalp Printers

Āchārya **Kundkund's**

Samayasāra

WITH HINDI AND ENGLISH TRANSLATION

श्रीमदाचार्य कुन्दकुन्द विरचित

समयसार

• Prakrit • Hindi • English

Foreword:

Āchārya* 108 Vidyanand *Muni

English Translation, and Edited by:

Vijay K. Jain

- ***Published 2012; Hard Bound***
- ***Pages: xvi + 208***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***
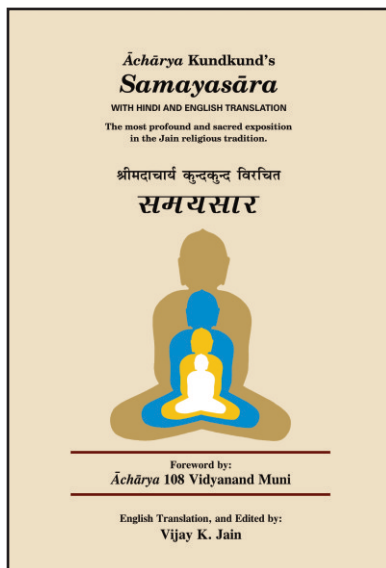
ISBN 81-903639-3-X **Rs. 350/-**

Shri **Amritchandra Suri's**

Puruṣārthasiddhyupāya

Realization of the Pure Self

WITH HINDI AND ENGLISH TRANSLATION

श्री अमृतचन्द्रसूरी विरचित

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

• Sanskrit • Hindi • English

Foreword:

Āchārya* 108 Vidyanand *Muni

English Translation, and Edited by:

Vijay K. Jain

- ***Published 2012; Hard Bound***
- ***Pages: xvi + 191***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***
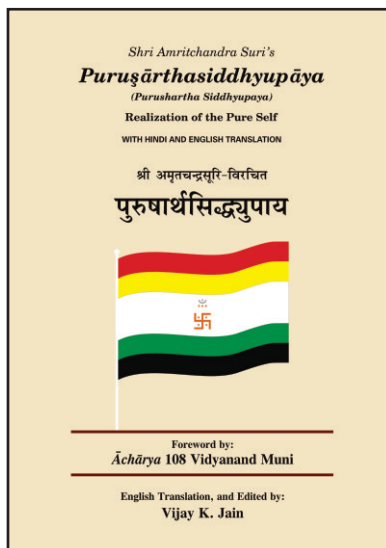
ISBN 81-903639-4-8 **Rs. 350/-**

Ācārya Nemichandra's

Dravyasaṃgraha

With Authentic Explanatory Notes

आचार्य नेमिचन्द्र विरचित

द्रव्यसंग्रह

• Prakrit • Hindi • English

Foreword:
Ācārya* 108 Vidyanand *Muni

English Translation, and Edited by:
Vijay K. Jain

- ***Published 2013; Hard Bound***
- ***Pages: xvi + 216***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

Ācārya Nemichandra's
Dravyasamgraha
(Also: Dravya Sangraha, Dravya Samgraha)
With Authentic Explanatory Notes
आचार्य नेमिचन्द्र विरचित
द्रव्यसंग्रह
Foreword by:
Āchārya 108 Vidyanand Muni
English Translation, and Edited by:
Vijay K. Jain
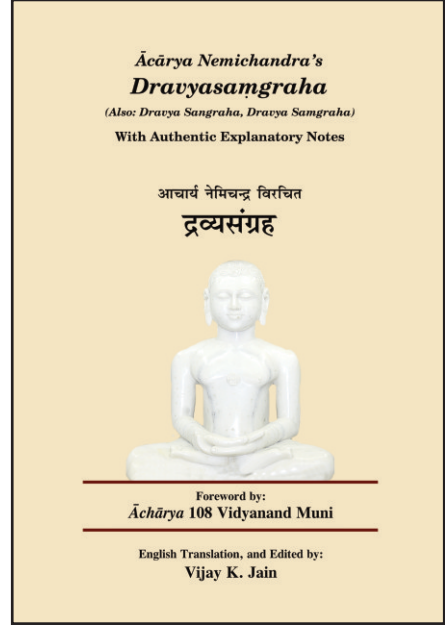
ISBN 81-903639-5-6 **Rs. 450/-**

Ācārya Pūjyapāda's

Iṣṭopadeśa – The Golden Discourse

आचार्य पूज्यपाद विरचित

इष्टोपदेश

• Sanskrit • English

Foreword:
Ācārya* 108 Vidyanand *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2014; Hard Bound***
- ***Pages: xvi + 152***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

Ācārya Pujyapada's
Iṣṭopadeśa –
THE GOLDEN DISCOURSE
आचार्य पूज्यपाद विरचित
इष्टोपदेश
Foreword by:
Ācārya 108 Vidyanand *Muni*
VIJAY K. JAIN
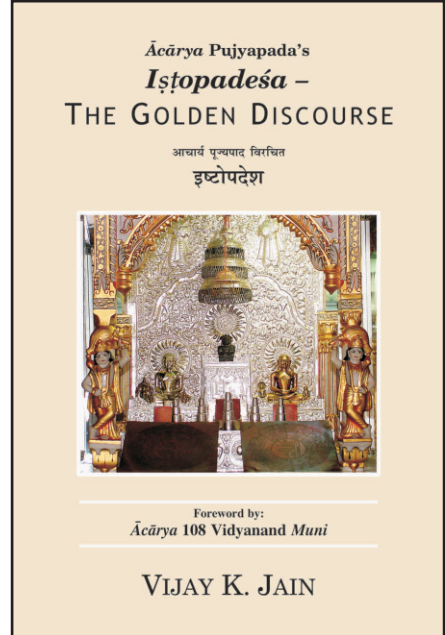
ISBN 81-903639-6-4 **Rs. 450/-**

Ācārya Samantabhadra's

***Svayambhūstotra* –**
Adoration of
The Twenty-four *Tīrthaṅkara*

आचार्य समन्तभद्र विरचित

स्वयम्भूस्तोत्र

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyanand *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2015; Hard Bound***
- ***Pages: xxiv + 220***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***
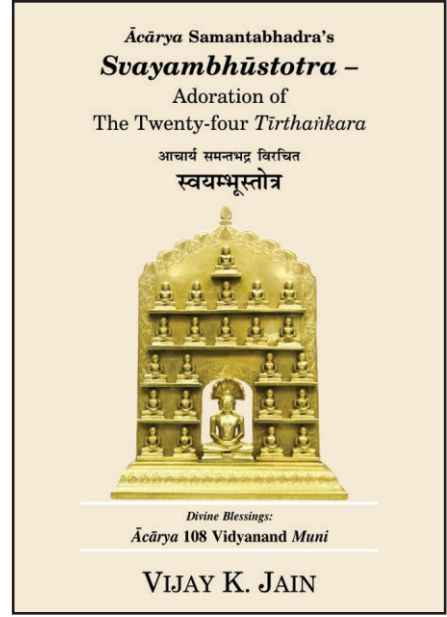
ISBN 81-903639-7-2 **Rs. 500/-**

Ācārya Samantabhadra's

Āptamīmāṁsā
(Devāgamastotra)
Deep Reflection On The Omniscient Lord

आचार्य समन्तभद्र विरचित

आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र)

• Sanskrit • Hindi • English

Foreword:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2016; Hard Bound***
- ***Pages: xxiv + 200***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***
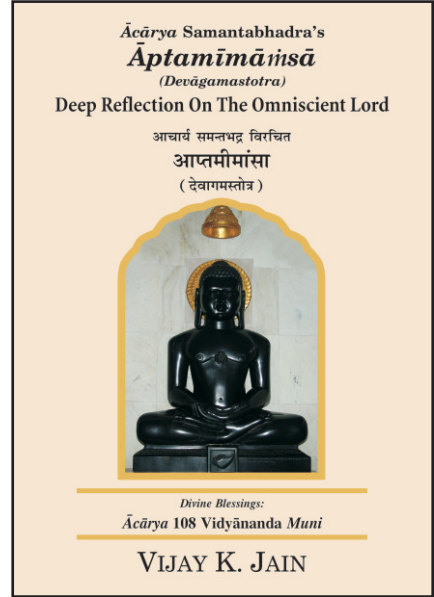
ISBN 81-903639-8-0 **Rs. 500/-**

Ācārya Samantabhadra's

***Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra* –**

The Jewel-casket of Householder's Conduct

आचार्य समन्तभद्र विरचित

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:

Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:

Vijay K. Jain

- ***Published 2016; Hard Bound***
- ***Pages: xxiv + 264***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

Ācārya Samantabhadra's

***Ratnakaraṇḍaka-śrāvakācāra* –**

The Jewel-casket of Householder's Conduct

आचार्य समन्तभद्र विरचित

रत्नकरण्डकश्रावकाचार

Divine Blessings:

Ācārya 108 Vidyānanda *Muni*
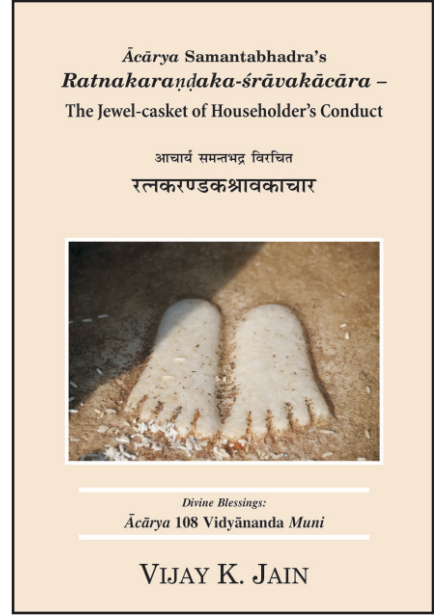
VIJAY K. JAIN

ISBN 81-903639-9-9 **Rs. 500/-**

Ācārya Pūjyapāda's

***Samādhitantram* –**

Supreme Meditation

आचार्य पूज्यपाद विरचित

समाधितंत्रम्

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:

Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:

Vijay K. Jain

- ***Published 2017; Hard Bound***
- ***Pages: xlii + 202***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

Ācārya Pūjyapāda's

***Samādhitantram* –**

Supreme Meditation

आचार्य पूज्यपाद विरचित

समाधितंत्रम्

Divine Blessings:

Ācārya 108 Vidyanand *Muni*
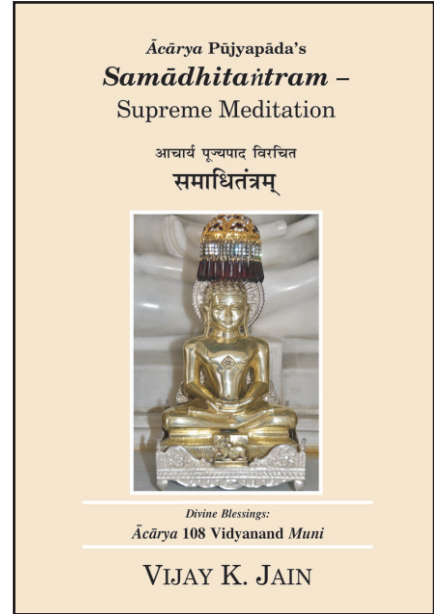
VIJAY K. JAIN

ISBN 978-81-932726-0-2 **Rs. 600/-**

Ācārya Kundakunda's
Pravacanasāra –
Essence of the Doctrine

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित
प्रवचनसार

• Prakrit • Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2018; Hard Bound***
- ***Pages: lxi + 345***
- ***Size: 16 × 22.5 cm***

Ācārya Kundakunda's
Pravacanasāra –
Essence of the Doctrine
आचार्य कुन्दकुन्द विरचित
प्रवचनसार
Divine Blessings:
Ācārya 108 Vidyānanda Muni
VIJAY K. JAIN
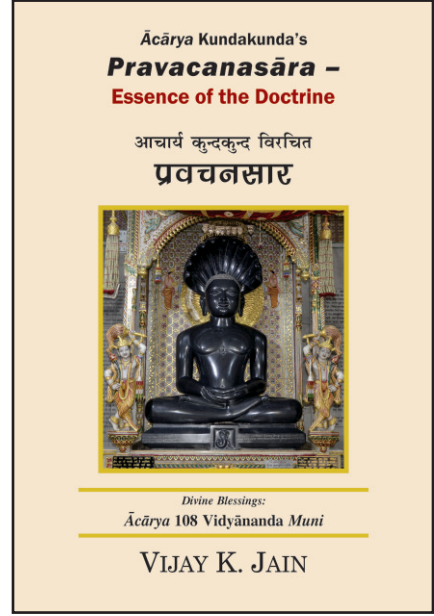
ISBN 978-81-932726-1-9 **Rs. 600/-**

***Ācārya* Umāsvāmī's**
Tattvārthasūtra
– With Explanation in English from *Ācārya* Pūjyapāda's *Sarvārthasiddhi*

आचार्य उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र
(अंग्रेजी व्याख्या स्त्रोत – आचार्य पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि)

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2018; Hard Bound***
- ***Pages: xxx + 466***
- ***Size: 16 × 23 cm***
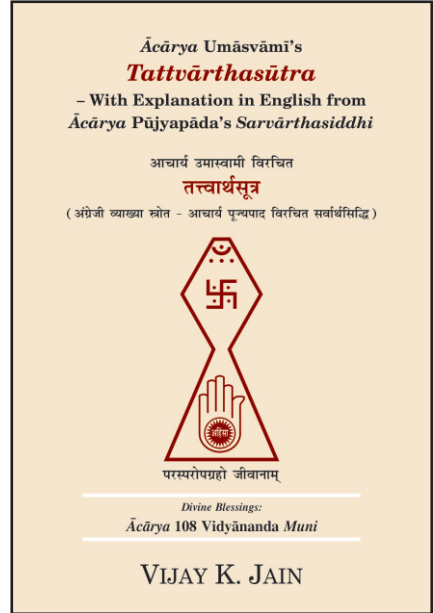
ISBN 978-81-932726-2-6 **Rs. 750/-**

Ācārya **Kundakunda's**

Niyamasāra

– The Essence of Soul-adoration
(With Authentic Explanatory Notes)

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित

नियमसार (प्रामाणिक व्याख्या सहित)

• Prakrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2019; Hard Bound***
- ***Pages: lxiv + 341***
- ***Size: 17 × 24 cm***

Ācārya Kundakunda's
Niyamasāra
– The Essence of Soul-adoration
(With Authentic Explanatory Notes)
आचार्य कुन्दकुन्द विरचित
नियमसार
(प्रामाणिक व्याख्या सहित)
Divine Blessings:
Ācārya 108 Vidyānanda *Muni*
VIJAY K. JAIN
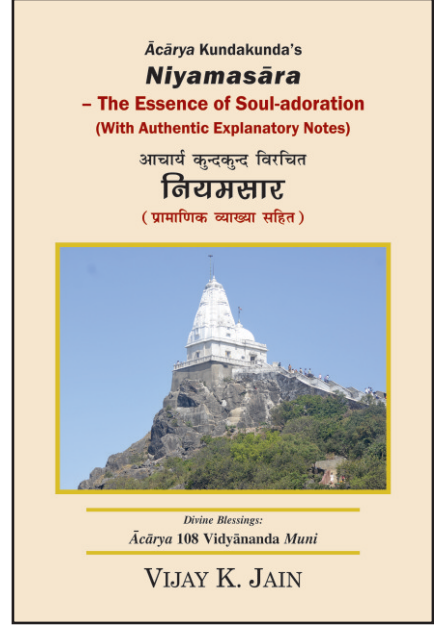
ISBN 978-81-932726-3-3 **Rs. 600/-**

Ācārya Guṇabhadra's

Ātmānuśāsana

– Precept on the Soul

आचार्य गुणभद्र विरचित

आत्मानुशासन

• Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:
Ācārya* 108 Vidyānanda *Muni

Translation and Commentary:
Vijay K. Jain

- ***Published 2019; Hard Bound***
- ***Pages: xlvi + 240***
- ***Size: 17 × 24 cm***
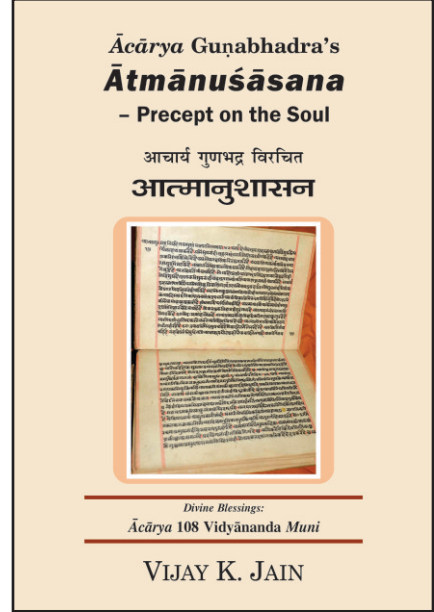
ISBN 9788193272640 **Rs. 600/-**

Ācārya Kundakunda's

Pañcāstikāya-saṃgraha

– With Authentic Explanatory Notes in English

(The Jaina Metaphysics)

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित

पंचास्तिकाय-संग्रह

– प्रामाणिक अंग्रेजी व्याख्या सहित

• Prakrit • Sanskrit • Hindi • English

Divine Blessings:

Ācārya* Viśuddhasāgara *Muni

Translation and Commentary:

Vijay K. Jain

- ***Published 2020; Hard Bound***
- ***Pages: lxx + 358***
- ***Size: 17 × 24 cm***

Ācārya Kundakunda's

Pañcāstikāya-saṃgraha

– With Authentic Explanatory Notes in English

(The Jaina Metaphysics)

आचार्य कुन्दकुन्द विरचित

पंचास्तिकाय-संग्रह

– प्रामाणिक अंग्रेजी व्याख्या सहित

Divine Blessings:

Ācārya 108 Viśuddhasāgara *Muni*

VIJAY K. JAIN

ISBN 9788193272657 **Rs. 750/-**
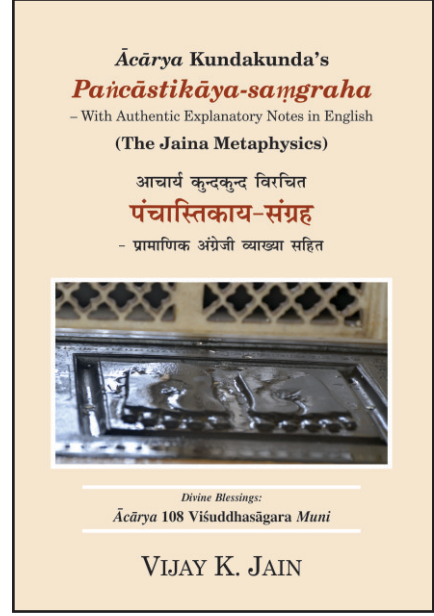
आचार्य समन्तभद्र विरचित

स्तुतिविद्या

(जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

• संस्कृत • हिन्दी

दिव्याशीष

आचार्य विशुद्धसागर मुनिराज

सम्पादक

विजय कुमार जैन

- ***Published 2020; Hard Bound***
- ***Pages: l + 222***
- ***Size: 17 × 24 cm***

आचार्य समन्तभद्र विरचित

स्तुतिविद्या

(जिनशतक, जिनस्तुतिशतं)

दिव्याशीष –

दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनिराज

सम्पादक –

विजय कुमार जैन

ISBN 9788193272671 **Rs. 500/-**

अनेक दार्शनिक-कृतियों में **'युक्त्यनुशासन'** स्वामी समन्तभद्र की चिर-स्थायी, सर्वकालिक महान् कृति है, जिसमें स्वमत-मण्डन, परमत-खण्डन की अपूर्व शैली है। तीर्थंकर वर्धमान के शासन को 'सर्वोदय-शासन', 'सर्वोदयी-तीर्थ' का उद्घोष इसी कृति में है। दया-दम-त्याग-समाधि से निष्ठ भगवान् महावीर स्वामी का मत ही अद्वितीय मत है; वर्धमान आप श्री के चरणों में अभद्र भी समन्तभद्र हो जाता है।
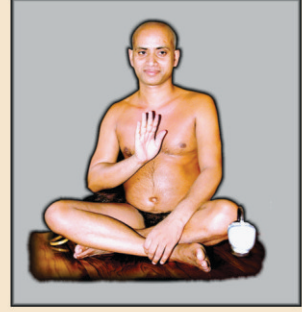
ऐसे महान् ग्रन्थराज का सरल-सुबोध, सरल-शैली में जिनवाणी के निष्काम-भक्त, स्याद्वाद-शासन, नमोऽस्तु-शासन से अनुरक्त, स्व-समय को जिन्होंने अनेकान्त-शासन को समर्पित कर दिया है ऐसे विद्वान् श्री विजय कुमार जैन ने सम्पादन कर जिन-वागीश्वरी के कोश की वृद्धि की है। उनके अगाध श्रुत-संवेग का यही परिचय है कि वह हमेशा श्रुत-सेवा में संलग्न रहते हैं। स्व-समय की उपलब्धि हेतु, वह इसी प्रकार से स्व-समय का शुभ-प्रशस्त उपयोग करते रहें, यही शुभाशीष है।

दिगम्बराचार्य विशुद्धसागर मुनि

ISBN: 9788193272664

विकल्प
Vikalp Printers